भर्तृहरिकृत

शतकत्रयम्

(नीति, शृंगार एवं वैराग्यशतक भाषानुवाद सहित)

अनुवादक
श्रीकांत खरे

भूमिका लेखक
कमलेशदत्त त्रिपाठी

संपादक
श्रीकृष्णदास



मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद।

मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक :
श्री धीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद।

निवेदन

भर्तृहरिकृत 'शतकत्रयम्' संस्कृत साहित्य का अनमोल रत्न है। विचारों की उदात्तता, शैली की सरसता, पदों के लालित्य और रचना के सौरस्य के कारण यह भारती कण्ठाभरण के अनमोल मणियों जैसा विगत बारह-तेरह सौ वर्षों से जगमग करता रहा है, देदीप्यमान होता रहा है। नीति, शृंगार और वैराग्य से सम्बन्धित ये श्लोक भारतीय समाज के तन-मन को सदियों से अनुप्राणित और उत्प्रेरित करते रहे हैं। इनको इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई कि अन्य साहित्यकारों एवं मनीषियों ने शतकत्रयम् की मुक्तक परम्परा को विस्तार के अन्य क्षेत्रों में भी प्रयुक्त किया और अपने साहित्य को अधिकाधिक मात्रा में सुषमा-सम्पन्न किया। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी इस परम्परा का पालन किया गया और मुक्तक काव्य की उत्कृष्ट रचनाएं हुईं। हिन्दी में भी अनेक यशस्वी सुकविनाम कवियों ने इस मुक्तक परम्परा का अनुगमन किया और नीति एवं शृंगार के उत्कृष्टतम दोहों की रचना की। इस प्रकार मुक्तक काव्य की परम्परा भारतीय वाङ्मय में अबाध गति से चलती चली आई है।

शतकत्रयम् में नीति के १११ श्लोक, शृंगार के १०० श्लोक और वैराग्य के ११३ श्लोक सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह कुल ३२४ श्लोकों का संग्रह है। यद्यपि इनमें से कुछ श्लोकों के सम्बन्ध में यह धारणा भी है कि ये प्रक्षिप्त हैं, परन्तु परम्परा से ये भर्तृहरिकृत ही माने जाते हैं और हमने उन्हें इसी रूप में प्रस्तुत संकलन में सम्मिलित किया है। इसी प्रकार शृंगार शतकम् के १५ वें श्लोक में, 'उद्धृत' के स्थान पर हमने 'यद्वृत्त' और 'पक्षिकोश' के स्थान पर 'पक्षिरेख', ३६ वें श्लोक में 'परिमन्द प्राग्भार' के स्थान पर 'परिमन्दा प्राग्भार' को स्वीकार कर लिया है। ७२वें

श्लोक में 'मुखानि' के स्थान पर 'मासति' और 'विद्वानपि' के स्थान पर 'ज्ञानप्रपि' ७९ वें श्लोक में 'कृतिधर' के स्थान पर 'कृतिवर' ही रहने दिया है। वैराग्यशतकम् के ५५ वें श्लोक में 'मुग्घम' के स्थान पर 'मुग्धम' ७९ वें श्लोक में 'परमधनीयम्' के स्थान पर 'परमार्थनीयम्' को ही ग्राह्य समझा है। शब्दों के चुनाव के सम्बन्ध में भर्तृहरि अत्यन्त सजग रहे हैं। अत: उनके श्लोकों में शब्दों के हेरफेर की गुंजायश बहुत कम रही है।

भर्तृहरिकृत 'शतकत्रयम्' को प्रकाशित करते समय हमें विशेष आनन्द हो रहा है। शतकत्रयम् तीन भागों में विभाजित है—नीतिशतक शृंगारशतक और वैराग्यशतक। इन शतकों का प्रत्येक श्लोक अत्यन्त ललित मधुर और उत्कृष्ट है। साथ ही ये सारे के सारे श्लोक विचारोत्तेजक भी हैं। महर्षि भर्तृहरि को जीवन के प्रत्येक पक्ष का अनुभव प्राप्त था। वह अत्यन्त गम्भीर विचारक थे। भारतीय लौकिक एवं आध्यात्मिक साहित्य का उन्होंने अच्छी तरह मंथन किया था। 'सत्य' और 'शिव' और 'सुन्दर' के वह अनन्य उपासक थे। उनकी दृष्टि निर्मल थी। वह मंत्रद्रष्टा थे। इसलिए चाहे नीति हो अथवा शृंगार हो या वैराग्य हो वह जो कुछ कहते हैं वह अन्तिम और परमसत्य के रूप में हमारे सामने उद्भासित होता है। इसीलिए शतकत्रयम् की ख्याति देश की सीमाओं के बाहर भी पहुँची और सर्वत्र विद्वन्मंडली में भर्तृहरि के शतक समादृत हुए। शतकत्रयम् का प्रस्तुत संस्करण ललित भाषानुवाद के कारण और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। यद्यपि 'शतकत्रयम्' के अनेक संस्करण प्राप्त हैं फिर भी इस संस्करण को प्रकाशित करने का प्रयोजन केवल यही है कि शतकत्रयम् अधिकाधिक संख्या में सभी पाठकों के पास पहुँचे और इससे वे लाभान्वित हों। ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में जो अनुशीलनपूर्ण भरा भूमिका स्वरूप जोड़ दिया गया है उससे इस संस्करण की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। आशा है विज्ञ पाठक इस संस्करण को अपने स्नेह-क्रोड़ में प्रश्रय देंगे।

—श्रीकृष्ण दास

रचयिता और वाक्यपदीयकार एक ही हैं। किन्तु किन्हीं दो रचनाओं अथवा तीनों के ऐक्य का आधार इत्सिंग का उपयुक्त उल्लेख है। इस तरह 'वाक्यपदीय' का रचयिता वाक्यपदीयकार ही है, इसका आधार निश्चय ही ठोस नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में कोई निर्णयपूर्ण प्रमाण प्राप्य नहीं हो सकता।

एक बात विचार की है कि भट्टि के कथनानुसार उनके महाकाव्य की रचना किसी वलभी नरेश श्रीधरसेन के राज्यकाल में हुई। इस नाम के चार राजा वलभी संवत् १५१ से ३३० के बीच हुए।

श्रीधरसेन नामक अंतिम राजा की मृत्यु ६४१ ई० में हुई। श्रीधरसेन द्वितीय (६१० ई०) के शिलालेख में भट्टि नामक किसी विद्वान् को भूमि देने का उल्लेख है। भामह भट्टि से परिचित थे अतः इनका काल भट्टि का समय माना जा सकता है। इत्सिंग के अनुसार भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० के लगभग हुई। अतः इन दोनों के समय में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है।

अनुश्रुति भर्तृहरि को किसी 'विक्रम' से भी जोड़ती है। वस्तुतः समय के आसपास ५४४ ई० में शकों को करूर की लड़ाई में पराजित करने वाले उज्जयिनी के हर्ष विक्रमादित्य की स्थिति का पता चलता है। यदि उपलब्ध अनुश्रुति मान ली जाय तो भर्तृहरि को विक्रम से सम्बन्धित करने वाले यही विक्रमादित्य सामने रह जाते हैं।

तैलंग की अपनी भूमिका में तैलंग महोदय भर्तृहरि को ईसवीय प्रथम-द्वितीय शतक में रखते हैं।

इन विभिन्न मतमतान्तरों में निर्णय की स्थिति दृढ़ प्रमाण के अभाव में प्राप्य नहीं है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि सातवीं शती के बाद के कदापि नहीं हो सकते। कीथ का यह निष्कर्ष भी तर्क-संगत प्रतीत होता है कि अनुश्रुति से कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलता जो भर्तृहरि के विक्रमादित्य से संबन्ध स्थापित करने में सहायक हो। उनकी भट्टि से एकता की बात भी तर्कसंगत नहीं। फलतः शतकत्रय के रचयिता और वैयाकरण भर्तृहरि के एक होने की बात ही कुछ आधारयुक्त रह जाती है।

भर्तृहरि को योगी के रूप में स्वीकारने की प्रवृत्ति हमारे लोक-साहित्य में [illegible]

श्लोक में 'मुह्यति' के स्थान पर 'माद्यति' और 'विद्वानपि' के स्थान प
ज्ञानप्यपि' ७१ वें श्लोक में 'कृतिधर' के स्थान पर 'कृतिवर' ही रहने दिय
है। वैराग्यशतकम् के २२ वें श्लोक में 'मुग्धम' के स्थान पर 'मुग्धम
७१ वें श्लोक में 'परमर्पणीयम्' के स्थान पर 'परमार्पणीयम्' को ही प्रा
समझा है। शब्दों के चुनाव के सम्बन्ध में भर्तृहरि अत्यन्त सजग रहे हैं
अतः उनके श्लोकों में शब्दों के हेरफेर की गुंजायश बहुत कम रही है

भर्तृहरिकृत 'शतकत्रयम्' को प्रकाशित करते समय हमें विशे
आनन्द हो रहा है। 'शतकत्रयम्' तीन भागों में विभाजित है—नीतिशतक
शृंगारशतक और वैराग्यशतक। इन शतकों का प्रत्येक श्लोक अत्यन्त
ललित मधुर और उत्कृष्ट है। साथ ही ये सारे के सारे श्लोक विचारो
त्तेजक भी हैं। महर्षि भर्तृहरि को जीवन के प्रत्येक पक्ष का अनुभव प्राप्त
था। वह अत्यन्त गम्भीर विचारक थे। भारतीय लौकिक एवं आध्यात्मिक
साहित्य का उन्होंने अच्छी तरह मंथन किया था। 'सत्य' और 'शिव'
और 'सुन्दर' के वह अनन्य उपासक थे। उनकी दृष्टि निर्मल थी। वह
मंत्रद्रष्टा थे। इसलिए चाहे नीति हो अथवा शृंगार हो या वैराग्य हो
वह जो कुछ कहते हैं वह अन्तिम और परमसत्य के रूप में हमारे सामने
उद्भासित होता है। इसीलिए 'शतकत्रयम्' की ख्याति देश की सीमाओं
के बाहर भी पहुँची और सर्वत्र विद्वमंडली में भर्तृहरि के शतक समादृत
हुए। 'शतकत्रयम्' का प्रस्तुत संस्करण ललित भाषानुवाद के कारण
और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। यद्यपि 'शतकत्रयम्' के अनेक
संस्करण प्राप्त हैं फिर भी इस संस्करण को प्रकाशित करने का प्रयोजन
केवल यही है कि 'शतकत्रयम्' अधिकाधिक संख्या में सभी पाठकों के पास
पहुँचे और इससे वे लाभान्वित हों। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में जो
अनुशीलनपूर्ण लघु भूमिका स्वरूप जोड़ दिया गया है उससे इस संस्करण
की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। आशा है विज्ञ पाठक इस संस्करण
को अपने स्नेह-क्रोड़ में प्रश्रय देंगे।

—श्रीकृष्ण दास

रचयिता और वाक्यपदीयकार एक ही है। किन्तु किन्हीं दो रचनाओं अथवा तीनों के ऐक्य का आधार इ-त्सिंग का उपर्युक्त उल्लेख है। इस तरह 'रावणवध' का रचयिता वाक्यपदीयकार ही है, इसका आधार निश्चय ही ठोस नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में कोई निर्णयपूर्ण प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता।

एक मात्र विचार यही है कि भट्टि के कथनानुसार उनके महाकाव्य की रचना किसी वलभी नरेश श्रीधरसेन के राज्यकाल में हुई। इस नाम के चार राजा वलभी संवत् १८३ से ३३० के बीच हुए।

श्रीधरसेन नामक अन्तिम राजा की मृत्यु ६४१ ई० में हुई। श्रीधरसेन द्वितीय (६१० ई०) के शिलालेख में भट्टि नामक किसी विद्वान् को भूमि देने का उल्लेख है। भामह भट्टि से परिचित थे अतः इनका काल भट्टि का समय माना जा सकता है। इ-त्सिंग के अनुसार भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० के लगभग हुई। अतः इन दोनों के समय में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है।

अनुश्रुति भर्तृहरि को किसी 'विक्रम' से भी जोड़ती है। अतः उक्त समय के आसपास ५४४ ई० में शकों को करूर की लड़ाई में पराजित करने वाले उज्जयिनी के नृप विक्रमादित्य की स्थिति का पता हमें है। यदि उपर्युक्त अनुश्रुति मान ली जाय तो भर्तृहरि को विक्रम से सम्बन्धित करने वाले यही विक्रमादित्य सामने रह जाते हैं।

शतकों की अपनी भूमिका में तेलंग महोदय भर्तृहरि को ईसवीय प्रथम-द्वितीय शतक में रखते हैं।

इन विभिन्न मतमतान्तरों में निर्णय की स्थिति एक समस्या के अभाव में प्राप्य नहीं है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शतकत्रय के रचयिता भर्तृहरि सातवीं शती के बाद के कदापि नहीं हो सकते। बीच का यह निष्कर्ष भी उल्टा-सीधा प्रतीत होता है कि अनुश्रुति में कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलता जो भर्तृहरि का विक्रमादित्य से संबन्ध स्थापित करने में सहायक हो। उनकी भट्टि से एकता की बात भी तर्कसंगत नहीं। अन्ततः शतकत्रय के रचयिता और वैयाकरण भर्तृहरि का एक होने की बात ही कुछ आधारयुक्त रह जाती है।

भर्तृहरि को योगी के रूप में स्वीकारने की प्रवृत्ति हमारे लोक-साहित्य में पायी जाती है। इस विचार का मूल सम्भवतः हरिहर रचित 'भर्तृहरिनिर्वेद'

नाटक है। इस नाटक में योग की महिमा का प्रतिपादन है। इसमें स्थूल भौति[क] शरीर से आत्मा को पृथक् करने का तथा संसार से विराग का संदेश दिया गया है। इस नाटक के मुख्य पात्र प्रसिद्ध योगी गोरखनाथ अथवा गोरक्षनाथ हैं जिन्होंने पन्द्रहवीं शती के प्रारंभ में कनफटा योगियों के संप्रदाय की स्थापना की। इन्हें शिव का अवतार माना गया। इनका मंदिर आज भी गोरखपुर (उत्तरप्रदेश) में है।

भर्तृहरि अपनी पत्नी की मृत्यु की असत्य सूचना सुनकर व्याकुल हो उठे। एक योगी ने उन्हें सान्त्वना दी और उन्होंने ऐसी शक्ति प्राप्त की कि उन्होंने अपनी मृत अपनी पत्नी को जीवित कर लिया। किन्तु उनका संसार से मोह छूट गया।

भर्तृहरि का व्यक्तित्व जितना रहस्यपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से अस्पष्ट हुआ है, उनकी कृति के संबन्ध में भी उतना ही असमंजस है। आज उपलब्ध तीन शतकों में कितने ही ऐसे श्लोक हैं जो अन्य कवियों की रचनाएँ हैं। इस संबन्ध में 'सुभाषितावली' नामक प्राचीन सुभाषित-संग्रह के सम्पादक पा० पीटर्सन की सूचना महत्त्वपूर्ण है— 'तेलंग के संस्करण में नीतिशतक में दिए गये ११ श्लोकों में से ८ श्लोक हमारी पुस्तक में भर्तृहरि के नाम से व्यक्तरूप में संबद्ध हैं, १२ नामोल्लेख के बिना दिए गये हैं तथा ११ श्लोक अन्य दूसरे लेखकों से संबद्ध हैं। तेलंग के संस्करण में दिये गये 'वैराग्यशतक' के १११ श्लोकों में से ११ हमारी पुस्तक में व्यक्तरूप से भर्तृहरि से संबद्ध हैं, ११ नामोल्लेख के बिना दिये गये हैं तथा ६ व्यक्तरूप से दूसरे लेखकों से संबद्ध हैं। बोह्लेन के संस्करण में 'वैराग्यशतक' में दिये गये १०० श्लोकों में से केवल १ भर्तृहरि के नाम से है, १० बिना नामोल्लेख के हैं और ८ व्यक्तरूप से अन्य लेखकों के नाम से हैं।" इस संबन्ध में ए० बी० कीथ का मत है कि 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक' में भर्तृहरि की अपनी रचनाओं के साथ ही दूसरे रचनाकारों की रचनाओं के संकलन की संभावना स्वाभाविक है। हाँ 'शृंगारशतक' की बात दूसरी है—क्योंकि उसमें एक निश्चित योजना है जो सचमुच एक कुशल संग्रहकर्ता पर लागू हो सकता है किन्तु जो अधिक स्वाभाविक रूप से सृजनशील मस्तिष्क का कृतित्व होने का संकेत करता है।

भर्तृहरि चाहे जब हुए, उन्होंने अपनी शतकों में चाहे संकलन किया हो या सारे श्लोक उनकी ही रचनाएं हों किन्तु इतना निश्चित है कि उनकी शतकों में प्राप्त श्लोक संस्कृत के मुक्तकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी नीति शृंगार तथा वैराग्य शतकों में मुक्तकों का कवित्व से पूर्ण रूप दृष्टिगोचर होता है। काव्य में नीति शृंगार तथा वैराग्य का विषय वस्तु स्वीकार करने की प्रवृत्ति भर्तृहरि से पूर्वतम ही है। संस्कृत काव्य के लिये महाभारत की नीतिपरक उक्तियां बड़ी जानी-पहचानी हैं। बौद्ध जातकों में गाथाओं का आधार लेकर कहानियों के माध्यम से नीति के तत्व उजागर किये गये। पंचतन्त्र और हितोपदेश की कथाएं नीति का ज्ञान कराने के लिये ही रची गयीं। बड़े ही सुगमरूप में जीवन की नीति और आचार का बोध कराने के लिये संस्कृत के कवियों ने कविता का माध्यम स्वीकार कर लिया। ऐसी रचनाओं में प्रायः बड़ी प्रौढ़ कविता के साथ नीतिपरक भावों की अभिव्यक्ति है। मैकडानल का कहना है— 'संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों में असंख्य नीतिवाक्य बिखरे हैं जिनमें असंख्य बुद्धिमत्तापूर्ण एवं उदात्त मौलिक और चोट करने वाले विचार बहुधा अत्यन्त परिष्कृत और काव्यात्मक रूप में दिखाई पड़ते हैं। स्मृतियां तो इनसे भरी पड़ी हैं। महाकाव्यों और नाटकों में ये बहुधा नायकों देवताओं और ऋषियों के ओठों पर आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यों की एक स्वतंत्र विधा के रूप में नीतिपरक धार्मिक और शृंगारपरक मुक्तकों का विकास हुआ। अश्वघोष तथा मातृचेट के स्तोत्र, तथा कालिदास के 'ऋतु संहार' जैसे खण्डकाव्य में प्रकृति का स्फुट वर्णन इस प्रकार के काव्य के अवतार की भूमिका है। इससे पूर्व के पाणिनि तथा वररुचि के नाम से स्फुट श्लोक पाये जाते हैं जिनमें भर्तृहरि द्वारा रचित मुक्तकों की भूमिका मिलती है। रुद्रटालंकार के व्याख्याकार नमिसाधु ने महाकवियों की रचनाओं में भी 'अपशब्दप्रयोग' के दर्शन पर टिप्पणी करते हुए इस प्रसंग में पाणिनि का एक श्लोक उद्धृत किया है—

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत् प्रावृषि कालमेघाः।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति॥

आधी रात बीत जाने पर बरसात में जो काले बादल मन्द गर्जन करते हैं लगता है चन्द्र के बिम्ब का न देख कर वे हुंकारते हैं जैसे गाय अपने बछड़े के लिये रम्भा रही हो।

'ध्वन्यालोक' में बिना नाम के उद्धृत यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में पाणिनि के नाम से उद्धृत है—

उपोढरागेण विलोलतारकम्,
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया
पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।

रागभरे (सन्ध्या-अनुरागयुक्त) चंचल तारक (चंचल पुतलियों वाले-चमकते तारागण से भरे), निशा के मुख (आरंभ-आनन) का ग्रहण चन्द्र ने यों किया कि वह रागवश उसने गिरते तिमिरांशुक (अन्धकार की चादर-नीलांशुक) को भी न जान पायी।

वहीं पर पाणिनि के नाम से एक दूसरा श्लोक भी है—

क्षपाः क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम्।
क्व संप्रत्युष्णांशुर्गत इति समन्वेषणपरा-
स्तडिद्दीपालोकैर्दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः॥

रातों को क्षुद्र कर, सरिताओं से बलात् जल का अपहरण कर, सारी पृथ्वी को तपा कर, सारे तरुगहन वन को सुखा कर अब सूर्य गया कहाँ? इस भावना से बिजलीरूपी दीपक के प्रकाश में उसे ढूंढते हुए बादल सब दिशा दिशा में विचरण कर रहे हैं।

सदुक्तिकर्णामृत में पाणिनि के नाम से श्लोक उद्धृत है—

स्थितो गिरेः शीतलकन्दरस्थः
पारावतो मन्मथचाटुदक्षः।
घर्मालसाङ्गीं मधुराणि कूजन्
संवीजते पक्षपुटेन कान्ताम्॥

पर्वत की शीतल कन्दरा में स्थित, कामावस्था में मनुहार में कुशल यह कपोत घाम से थकी अपनी कपोती पर पंख से हवा कर रहा है।

पाणिनि के इन श्लोकों की परम्परा में प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन् ने भी स्फुट श्लोकों की रचना की। 'सुभाषितावली' में उनके श्लोक उद्धृत हैं—

विषस्य च विषयाणां दूरमत्यन्तमन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥

विष और विषय में अधिक दूरी नहीं है—विष खा लेने पर हनन करता है, विषय तो स्मरणमात्र से ही।

केचिद्भयेन हि भवन्ति विनीतभावा
मन्ये जनाः विभवलोभकृतप्रयत्नाः।
केचिच्च साधुजनसंगति कीर्तिलोभात्,
सद्भावतो जगति कोऽपि न साधुरस्ति॥

कोई भय से विनीत रहता है दूसरे लोग धन के लोभ से प्रयत्न करते हैं, कुछ सज्जनों के बीच प्रशंसा के लोभ से, लेकिन कोई भी सद्भावों से युक्त होकर इस संसार में सज्जन नहीं होता।

चन्द्रगोमिन् का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवीय है।

लगभग पाँचवीं शताब्दी के सुन्दर प्राकृत की आर्या रचनाएं भी इसी भाँति प्रचलित रही हैं। इसके साथ प्राकृत में मुक्तकों की परम्परा चल ही रही थी। हाल द्वारा सम्पादित 'गाहा सत्तसई' में वह धारा सुरक्षित है।

इन सारी भूमिकाओं में भर्तृहरि की 'शतकत्रय' की उपलब्धि बड़ी महत्त्वपूर्ण है। भर्तृहरि ने पहली बार नीति शृंगार और वैराग्य के विषय का विभाजन कर अलग-अलग शतकों की रचना की। उनके श्लोकों में भाषा की अद्भुत सरलता के साथ जीवन के सार्वभौम अनुभवों को कविता का जामा पहनाया गया है। उनकी नीतिपरक जीवन के सत्यों को काव्यरूप में प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल रही है। कवि ने जीवन की यथार्थता के दर्शन के प्रसंग में शृंगार के महत्त्वपूर्ण स्थान को पहचानने में भूल नहीं की। रमणी के मदमाते आकर्षण और प्रकृति की मोहनी छटा का उद्दीपन उनके लिये काव्य विषय बना। कामिनी के अधर, नयन उरोज, रस भरे कुच उन्हें आकर्षक लगे। ऋतुओं का रूप उन्हें मनोहारी लगा। पर भर्तृहरि के मन में एक प्रश्न चिह्न लगा रहा।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा-
मुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ?

कवि को प्रश्न का उत्तर मिला। उसे इस संसार से विराग में ही जीवन क
सार्थकता का भान हुआ। दिक्कालादि से अनवच्छिन्न अनन्त और चिन्मात्रमूर्ति
स्वानुभूत्येकसार 'शिव' के चरण में उस शान्ति का निवास लगा। उसकी कामन
थी कि गंगा के पवित्र तट पर एकान्त में केवल शिव का स्मरण किया जाय।

भर्तृहरि के श्लोकों में उक्ति के सौष्ठव में ही कला का चरम परिष्का
दिखाई पड़ता है। रसदृष्टि की दृष्टि से उनके मुक्तक अत्यन्त समर्थ हैं। यों त
संस्कृत मुक्तकों के इतिहास में—महाकाव्य से भिन्न रूप में—सदा रसदृष्टि से सम
और कलात्मक दृष्टि से ऊँचे तथा पूर्ण कवित्व का अभाव नहीं रहा है किन्तु भर्तृह
की प्रतिभा से तो पश्चिम के तीक्ष्णदृष्ट आलोचक भी अभिभूत हो उठे। उनक
प्रतिभा कुछ ऐसी ही चरम है। उनकी उक्ति की चोट कुछ ऐसी ही मार्मिक है!

परन्तु 'शतकत्रयम्' केवल वैराग्य का ही सन्देश देता हो ऐसी बात नहीं
नीति के श्लोकों में भर्तृहरि के जीवन के कठोर कोमल अनुभवों का निचो
अत्यन्त ललित शब्दों में अत्यन्त सरस और चोटीले ढंग से रख दिया है। शृंगार
शतक में वर्ण्य शृंगार है, खूब मांसल अत्यन्त प्रभावशाली एवं मनोमोहक
और, वैराग्यशतक में कवि एक दार्शनिक और द्रष्टा के रूप में सामने आता है।
जीवन के मधुर-तिक्त अनुभवों का अर्जन करने के बाद वह देखता है कि यह सब
कुछ नहीं है, मिथ्या है मृगजल है व्यर्थ का मोह है। तब मनुष्य क्या करे?
उसकी मुक्ति किसमें है? उसे स्वभावतः संसार से विरक्ति होती है, वितृष्णा होती
है। उसका सारा ध्यान उसी आराध्य देव के चरणों में लग जाता है—वह जो
अनादि है अनन्त है दिशा और काल से भी मुक्त है जो मंगलमय है शिव है!

प्रयाग
होलिकोत्सव
१९६२ ई०

—कमलेशदत्त त्रिपाठी

नीतिशतकम्

श्री गणेशाय नमः

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ॥
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

देश-काल से अपरिसीमित अनन्त ज्ञानस्वरूप अपनी (आन्तरिक) अनुभूति से ही ज्ञानगम्य शान्त तथा तेजस्वी (ब्रह्म) को प्रणाम है ॥१॥

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥२॥

जिस स्त्री को मैं निरन्तर कामना करता हूँ वह मुझसे विमुख हो कर दूसरे मनुष्य को चाहती है और वह मनुष्य (जिसे मेरी प्रेयसी चाहती है) दूसरी स्त्री से अनुराग करता है, और मेरे लिए कोई दूसरी (स्त्री) संतोष किए बैठी है (अर्थात् मुझ पर आसक्त है)। (अतएव) उस स्त्री को जिसे मैं चाहता हूँ उस पुरुष को (जिसे मेरी प्रेयसी चाहती है) इस नारी को (जिस पर उक्त पुरुष आसक्त है) और मुझे भी तथा (उस) कामदेव को भी (जो इस प्रेम-प्रपंच के मूल में है) धिक्कार है ॥२॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ॥
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥३॥

मूर्ख व्यक्ति को सुख से सिद्ध किया जा सकता विद्वान पुरुष को और अधिक सुख से वश में किया जा सकता है। (परन्तु) दम्भी, स्वल्प ज्ञानवाले व्यक्ति को तो ब्रह्मा भी वशीभूत नहीं कर सकते ॥३॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरा-
त्समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

मगरमच्छ की वक्र दाढ़ों के बीच से (भी) बल का प्रयोग करके मणि निकाला जा सकता है, आन्दोलित लहरों वाले समुद्र को भी पार किया जा सकता है, क्रुद्ध साँप को भी सिर पर फूल के सदृश धारण किया जा सकता है, परन्तु (ऐसे) मूर्ख मनुष्य को वश में नहीं किया जा सकता (जिसका) मन बुराइयों में विक्षिप्त है ॥४॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ॥
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥५॥

युक्ति से पेरने पर रेत से भी तेल प्राप्त किया सकता है। प्यासा मनुष्य मृगमरीचिका से भी पानी पी सकता है और खोजने पर शायद खरगोश की सींग भी मिल जाय। परन्तु (ऐसा) मूढ़ नर को वश में नहीं किया जा सकता (जिसका) मन बुराइयों में फँसा हुआ है ॥५॥

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते ।
छेत्तुं वज्रमणींश्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते ॥
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते ।
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥६॥

जो दुष्टजनों को अपने अमृतरूपी सूक्तियों से अच्छे रास्ते पर लाना चाहता है वह (निश्चय ही) नरम कमलनाल की डोरी से हाथी को बाँधने की शिरीष की पंखुड़ियों से हीरे को बेधने की तथा एक बूँद शहद से खारे सागर को मीठा करने की मिथ्या कामना करता है ॥६॥

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः ॥
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥

मूर्खता के आवरण के रूप में ब्रह्मा ने मौन का सर्जन किया। यही एक गुण है जो अपने वश में रहता है। विशेषरूप से विद्वानों की सभा में चुपचाप रहना ही मूर्खों का अलङ्कार है ॥७॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं ।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

जब मैं स्वल्पज्ञ होने पर हाथी के समान मदांध था तब मेरा मन मरने को सर्वज्ञ समझ कर दम्भ से भर गया। (परन्तु) जब मुझे पण्डित जनों के सम्पर्क से कुछ जानकारी हुई तब यह पता चला कि मैं मूर्ख हूँ (और फिर) मेरा अभिमान ज्वार की तरह उतर गया ॥८॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं ।
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते ।
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ।।९।।

तुच्छ कोटि का जन्तु उस वस्तु की तुच्छता पर (अथवा निःसारता पर) ध्यान नहीं देता जिसे वह ग्रहण करता है। (क्योंकि) निर्लज्ज कुत्ता जिस समय कीड़ों से भरे हुए लार से सने तथा दुर्गन्ध से भरे हुए मांसहीन और नीरस हाड को बड़े प्रेम से खाता रहता है उस समय अपने पास खड़े हुए इन्द्र को देख कर भी उन पर ध्यान नहीं देता ।।९।।

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं ।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।।
अधो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा ।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।।१०।।

बुद्धि भ्रष्ट लोग सैकड़ों तरह से निरन्तर उसी प्रकार नीचे गिरते ही जाते हैं जैसे गङ्गा जी पहले स्वर्ग से शङ्कर जी के सिर पर गिरीं फिर वहाँ से ऊँचे पर्वत पर पर्वत से पृथिवी पर और फिर पृथिवी से समुद्र में क्रमशः नीचे ही गिरती गईं ।।१०।।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ।।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं ।
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।।११।।

शास्त्रीय विधि के अनुकूल सभी चीजों की दवा है। (क्योंकि) आग का पानी से, धूप का छाते से, मदान्ध हाथी का तेज अंकुश से, दुष्ट बैल और गदहे का डंडे से तथा रोगों का अन्यान्य प्रकार की औषधियों से निवारण हो सकता है। परन्तु मूर्ख आदमी की कोई दवा नहीं ॥११॥

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१२॥

जो व्यक्ति साहित्य और संगीत आदि कलाओं से विहीन है वह बिना सींग-पूँछ का प्रत्यक्ष जानवर है। इन पशुओं का यह बड़ा भाग्य है कि वे बिना घास खाए ही जीवित रहते हैं ॥१२॥

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१३॥

मनुष्य का रूप धारण किए हुए वे लोग मृत्युलोक में पृथ्वी पर भारस्वरूप पशु ही हैं जिनके पास न तो विद्या है, न तप, न दान, न ज्ञान, न चरित्र, न गुण और न धर्म ही है ॥१३॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१४॥

मूर्ख पुरुष का सम्पर्क इन्द्र के यहाँ भी नहीं अच्छा। उससे बढ़कर तो वन्य पशुओं के साथ पर्वतों और वनों में भ्रमण करना ही है ॥१४॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा ।
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ॥
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः ।
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥१५॥

वह राजा ही मूर्ख है जिस के यहाँ ऐसे कवि निर्धन हों जिनकी वाणी शास्त्रगत शब्दों से रमणीय है, जिनकी विद्या शिष्यों के लिए उपयोगी है और जो स्वयं प्रसिद्ध हैं। (क्योंकि) कवि तो बिना सम्पत्ति के भी श्रेष्ठ ही हैं। (उदाहरणार्थ) वे जौहरी ही खोटे हैं जिन्होंने मणियों का मूल्य कम कर दिया है (अर्थात् मणि नहीं) ॥ १५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा ।
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ॥
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं ।
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥१६॥

हे राजाओ! (ऐश्वर्य का) अभिमान छोड़ दो। (क्योंकि) उनकी समता करने वाला दूसरा कौन है जिनके पास ऐसी विद्यारूपी आन्तरिक सम्पत्ति है जिसको चुराने वाला देख नहीं पाता, जो सर्वदा सुख की वृद्धि करती है, जो प्रार्थियों को दान देने पर निरन्तर बढ़ती रहती है और जो कल्पान्त (अर्थात् संसार का अन्त) होने पर भी समाप्त नहीं होती ॥ १६ ॥

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि ॥
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१७॥

ऐसे विद्वान् पुरुषों का अनादर मत करो जिन्हें मोक्ष तक का साधन (विद्या) सुलभ है। (क्योंकि) उन्हें तृण तुल्य धन-सम्पत्ति उसी प्रकार रोक नहीं सकती जिस प्रकार कमलनाल की डोरी नये मद की धारा से श्यामल मस्तक वाले हाथियों को रोक नहीं सकती ॥ १७ ॥

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१८॥

अत्यधिक कुपित होने पर ब्रह्मा हंस का कमल वन में निवास और वहाँ का वैभव (मात्र) विनष्ट कर सकता है। पर वही (ब्रह्मा) उसके (हंस के) क्षीर-नीर विवेक वाले यश का अपहरण करने में समर्थ नहीं है ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला ।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजा ॥
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥

केवल वाणी का अलङ्कार ही अलङ्कार है अन्य सभी आभूषण तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। (क्योंकि) जो वाणी संस्कार के साथ धारण की जाती है वही पुरुष को आभूषित करती है। कंगन, चन्द्रमा के सदृश धवल मोतियों के हार, स्नान, चन्दन, सजे हुए केश आदि मनुष्य को अलंकृत नहीं कर पाते ॥ १९ ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं ।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं ।
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥२०॥

विद्या ही मनुष्य की बड़ी सुन्दरता है, वही उसका छिपा हुआ धन है भोग यश तथा सुख देने वाली है गुरुओं की भी गुरु है। विद्या ही परदेश में बन्धु है परम देवी है और (वही) राजाओं के बीच पूजनीय है। (अतएव) विद्या विहीन मनुष्य पशु ही है ॥२०॥

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां ।
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधं किं फलम् ॥
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि ।
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

यदि मनुष्यों के पास क्षमा हो तो कवच की क्या जरूरत है, यदि क्रोध हो तो (दूसरे) शत्रु की क्या आवश्यकता ? यदि अपनी जाति के लोग हों तो आग की क्या जरूरत ? यदि मित्र हों तो अलौकिक दवाई से क्या प्रयोजन ? दुष्टों से अधिक साँप क्या बिगाड़ सकते हैं ? जिसके पास निर्विकार विद्या है उसे धन से क्या मतलब ? और जिसमें लज्जा है उसे अन्य विभूषणों से क्या प्रयोजन ? (उसी प्रकार) जिसके पास अच्छी कविता है उसे राज्य से क्या प्रयोजन ॥२१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने ।
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ॥
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता ।
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२२॥

संसार में वे ही लोग श्रेष्ठ होते हैं जो स्वजनों के प्रति उदारता सेवकों पर दया दुष्टों से सदा दुष्टता सज्जनों के साथ प्रेम व्यवहार राजा के सामने नीति, विद्वानों के समक्ष सीधापन, दुश्मनों के साथ वीरता, गुरुजनों के आगे क्षमा याचना तथा स्त्रियों के विषय में धूर्तता आदि कलाओं में निपुण हैं ॥ २२ ॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं ।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं ।
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥२३॥

अच्छी संगति भला मनुष्यों के लिए क्या-क्या नहीं करती ? (क्योंकि) यह बुद्धि की जड़ता हर लेती है, वाणी में सत्य का संचार करती है सम्मान की वृद्धि करती है, पाप को दूर करती है और चित्त को प्रसन्न करती है तथा दिशाओं में यश का प्रसार करती है ॥ २३ ॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥ २४ ॥

विजय उन्हीं सत्कर्म करने वाले तथा रस-परिपाक में सिद्धहस्त श्रेष्ठ कवियों की है जिनके कीर्तिरूपी शरीर को बुढ़ापा या मृत्यु का भय नहीं होता ॥ २४ ॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः ।
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निष्क्लेशलेशं मनः ॥
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं ।
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ सम्प्राप्यते देहिना ॥२५॥

स्वर्ग के स्वामी, अभीष्ट पूर्ति करने वाले भगवान हरि जिस पर प्रसन्न हों उसी मनुष्य के अच्छे चरित्र वाले पुत्र, पतिव्रता पत्नी, सदैव कृपा करने वाला स्वामी स्नेह करने वाला मित्र, दंभ परिजन जो उसके नहीं, अशमात्र भी कष्ट से विमुक्त मन सुन्दर शरीर, निश्चल सम्पत्ति और विद्या से सुशोभित मुख प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं ।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा ।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्था ॥२६॥

मनुष्यों की भलाई के रास्ते ये सब हैं—जीवहिंसा न करना दूसरे के धन को चुराने से (अपने मन पर) संयम करना सच बोलना समय पर यथाशक्ति दान देना दूसरे पुरुषों की स्त्रियों के विषय में चर्चा होने पर चुप रहना लोभ के स्रोत का निवारण करना अपने से बड़े लोगों के सामने विनीत रहना सभी प्राणियों पर दया भाव रखना और नित्य प्रति के कर्मों से विचलित न होना ॥ २६

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः ।
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥२७॥

नीच कोटि के लोग डर के मारे (किसी काम का) आरम्भ ही नहीं करते मध्यम श्रेणी के लोग शुरू करके बाधाओं के पड़ने पर रुक जाते हैं (अर्थात् हताश होकर कार्य बन्द कर देते हैं) (परन्तु) विघ्नों के बार-बार आहत होने पर भी एक बार आरम्भ कर देने पर उत्तम कोटि के लोग कार्य नहीं छोड़ते ॥ २७ ॥

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ॥
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां ।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२८॥

सज्जनों को इस तलवार की धार के सदृश कठिन व्रत का उपदेश किसने दिया कि वे दुर्जनों से कुछ माँगते नहीं, चाहे धन वाले मित्र से भी याचना नहीं करते, उन्हें अपनी न्यायसंगत जीविका ही भली लगती है, उनके लिए प्राण जाने पर भी कुकर्म करना दुष्कर है, वे आपत्ति आने पर भी उच्चता का ही पालन करते हैं एवं महान् पुरुषों के आचरण का अनुगमन करते हैं ॥ २८ ॥

अथ मानशौर्यप्रशंसा

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृह
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥२९॥

मतवाले गजराज के विदीर्ण मस्तक के मांस के ग्रास की कामना करने वाला सिंह जो सम्मान के क्षेत्र में महान् लोगों के बीच सर्वप्रथम है, क्या सूखी घास खायेगा? चाहे वह भूख के कारण कितना ही क्षीण हो जाए, दुर्बल शक्तिहीन जरा से आकुल, निस्तेज और मृतप्राय ही क्यों न हो गया हो (वह सूखी घास नहीं खा सकता) ॥ २९ ॥

स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः ।
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये ॥
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं ।
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥३०॥

सभी लोग अपने अपने पुरुषार्थ के अनुसार फल की कामना करते हैं चाहे वे कितने ही विपन्न क्यों न हों। (क्योंकि) कुत्ता नस की चर्बी आदि से गन्दी तथा मांसहीन हाड़ को स्वल्प मात्रा में भी पाकर संतुष्ट हो जाता है यद्यपि (उससे उसकी) भूख शांत नहीं होती। (परन्तु) शेर गोद में आये हुए सियार को छोड़कर हाथी का ही शिकार करता है ॥३०॥

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं ।
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ॥
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु ।
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥३१॥

कुत्ता भोजन देने वाले के सामने पूंछ हिलाता है, पैरों पर झुककर सर रख देता है और जमीन पर गिरकर पेट और मुंह दिखलाता है अर्थात् दीनता का आचरण करता है। (परन्तु) गजराज अपने आहार देने वाले (व्यक्ति) की ओर गम्भीरतापूर्वक देखता है और अनेक प्रकार से पुचकारे जाने पर ही भोजन करता है ॥ ३१ ॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥३२॥

यहाँ (वास्तविक अर्थ में) उत्पन्न हुआ है जिसके जन्म लेने से वंश
ा उत्कर्ष होता है। (क्योंकि) परिवर्तनशील संसार में मरने के बाद कौन
न्म नहीं होता ॥ ३२ ॥

कुसुमस्तवकस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनाम् ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथ वा ॥३३॥

श्रेष्ठ पुरुषों की फूल के गुच्छे के समान दो ही गति होती है। या
ता (वे) सभी लोगों के सिर पर सुशोभित होंगे (अर्थात् पुष्प पक्ष में
सिर का हार बनेंगे मनस्वियों के पक्ष में मूर्धन्य बनेंगे) अथवा वन में
मुरझा कर झड़ जायेंगे (पुष्प पक्ष में वन में ही समाप्त हो जायेंगे श्रेष्ठ
के पक्ष में वनवास धारण कर लेंगे) ॥ ३३ ॥

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भासुरौ ।
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥३४॥

हे भाइयो! देखो अमावस और पूर्णिमा को दानवों का स्वामी राहु
जिसका केवल मस्तक मात्र शेष रह गया है केवल दो ही (महानों) का
ग्रसने वाले दिन के स्वामी सूर्य और रात्रि के प्राणेश चन्द्रमा को ही ग्रसता
है। विशेष पराक्रम की कामना के कारण वह बृहस्पति आदि और भी
पाँच-छः श्रेष्ठ ग्रहों के प्रति शत्रुता नहीं दिखलाता ॥३४॥

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां ।
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥३५॥

अहा ! महान् लोगों के आचरण के वैभव का कोई अन्त नहीं (क्यों कि) शेष नाग अपने चौदह भुवनों का भार धारण करते हैं, (और कच्छप भी अपनी पीठ पर उन शेष जी को (भी) सदैव धारण करते हैं । (और) समुद्र ने निरादर करके उन कच्छप जी को भी शंकर के अधीन कर दिया (ध्वनि यह है कि महान् लोग समुद्र की तरह होते हैं) ॥३५॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे ।
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥३६॥

मैनाक के लिए मदोन्मत्त इन्द्र द्वारा चलाए गए वज्र की जलती हुई आग की लपट के समान (भयंकर) प्रहार से पंखों का कट जाना अच्छा होता (परन्तु) उसके लिए यह उचित नहीं था कि वह अपने पिता हिमालय को दुःख में छोड़कर समुद्र में कूद कर अपने पंख बचाता ॥३६॥

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥३७॥

तेजस्वी लोग दूसरों से किए गए अपमान कैसे सह सकते हैं (क्योंकि) सूर्यकान्त मणि जड़ होने पर भी सूर्य के (किरण रूपी) चरणों से छू जाने पर जल उठता है ॥३७॥

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥३८॥

सिंह का बच्चा भी जन्म से भीगे हुए गण्डस्थल वाले हाथियों पर ही प्रहार करता है (क्योंकि) तेजस्वी प्राणियों की यही प्रकृति हो है। निश्चय ही बल का कारण आयु नहीं है ॥३८॥

जातियातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥३९॥

हमारे लिए तो केवल धन चाहिए जिस एक के बिना सभी गुण तिनके के टुकड़े के सदृश हैं—चाहे जाति-पाँति रसातल में (क्यों न) जाय अन्य गुणों का समूह और भी नीचे चला जाय सदाचार पहाड़ से गिरकर विनष्ट हो जाय और चाहे वीरता-भरी शत्रु पर शीघ्र (ही) वज्र के समान पड़ जाय ॥३९॥

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥४०॥

यह अद्भुत रीति है कि धन की गरमी के बिना वही मनुष्य जिसके सब इन्द्रियाँ वही हैं वही व्यवहार (भी) है वही प्रखर बुद्धि और वही वाणी है क्षणमात्र में और ही हो जाता है ॥४०॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥४१॥

सभी गुण सुवर्ण में निवास करते हैं। (क्योंकि) जिसके पास धन है वही आदमी अच्छे कुल का है वही विद्वान् वही शास्त्रज्ञ और गुणों का पारखी है वही भाषण देने में कुशल है और उसी का दर्शन करना चाहिए ॥४१॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयात्
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥४२॥

बुरे मन्त्रियों की सलाह से राजा नष्ट हो जाता है (उसी प्रकार) भोग-विलास से तपस्वी लाड़-प्यार से पुत्र न पढ़ने से ब्राह्मण कुपुत्र से वंश दुष्टों की पूजा करने से सदाचार, मदिरापान से लज्जा बिना निगरानी से खेती परदेश में रहने से प्रीति प्रेम के अभाव से मित्रता अनीति से उन्नति और आलस्य के कारण अपव्यय करने से धन– ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥४२॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

धन की तीन गतियाँ होती हैं–दान उपयोग एवं विनाश। जो न दान करता है और न भोग करता है उसकी सम्पत्ति की तीसरी (अर्थात् विनाश वाली) गति होती है ॥४३॥

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥४४॥

ये सभी चीजें (अपनी) कृशता में ही सुशोभित होती हैं—सान पर खरादी हुई मणि, तलवार से आहत युद्ध का विजेता, मदहीन हाथी, रेत के तट वाली शरद ऋतु की नदी, दूज का चाँद तथा सम्भोग से क्लान्त नवयुवती ॥४४॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये ।
स पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ॥
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥४५॥

जब कोई गिरी हालत में रहता है तो वह पसर भर जौ की लालसा रखता है, वही (मनुष्य) बाद में (जब) सम्पन्न हो जाता है तो सारी पृथिवी को तृण तुल्य मानने लगता है। अतएव सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की यह विषम अवस्था ही उनके कार्यों में गुरुता एवं लघुता द्वारा चीजों का विस्तार तथा संकोच करती है (अर्थात् उन्हें उत्थान तथा पतन दोनों की ओर ले जाती है) और उनके भाग्य में संवृद्धि अथवा गिरावट लाती है ॥४५॥

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां ।
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे ।
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ॥४६॥

हे राजन् ! यदि (तुम) इस पृथिवी रूपी गाय को दुहना चाहते हो तो इस प्रजारूपी बछड़े का इस समय पालन-पोषण करो। (क्योंकि) उसी के समुचित रूप से निरन्तर पोषित होने पर पृथिवी कल्पलता की तरह नाना प्रकार के फलों से भरी पूरी रहेगी ॥ ४६ ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च।
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च।
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥४७॥

राजनीति वेश्या की तरह रूप बदलती रहती है क्योंकि वह सच्ची और झूठी, कठोर और मृदुभाषिणी हिंसापरक और दयालु, लोभी और दानशील निरन्तर अपव्यय करने वाली और (वैसे ही) अत्यधिक धन का सञ्चय करने वाली बन जाती है ॥ ४७ ॥

विद्या कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च।
येषामेते षड् गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥४८॥

जिसके अन्दर विद्या यश ब्राह्मणों की रक्षा दान तथा उपभोग सुहृज्जनों की सुरक्षा आदि छः गुण नहीं उत्पन्न हुए उसे राजा की परिचर्या से क्या लाभ ॥४८॥

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं।
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ॥

...धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः ।
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४९॥

चाहे थोड़ा चाहे बहुत जितनी भी सम्पत्ति ब्रह्मा ने भाग्य में लिखी है उतनी तो रेगिस्तान में भी मिल जाती है और उससे अधिक सुमेरु पर्वत पर भी नहीं मिलती। इसलिए धैर्य धारण करो, धनाढ्य लोगों के सामने व्यर्थ हाथ मत पसारो। (क्योंकि) देखो! घड़ा कुएँ और सागर दोनों में से समान मात्रा में ही जल ग्रहण करता है ॥४९॥

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ॥५०॥

हे श्रेष्ठ घन! यह किसे नहीं मालूम है कि तुम्हीं (मुझ) पपीहे के एक मात्र आश्रय हो! (फिर) तुम मेरे दीनतापूर्ण वचनों (याचना) की प्रतीक्षा क्यों करते हो? (अर्थात् तुम्हें बिना मेरे याचना किए ही मेरे अभीष्ट की पूर्ति करनी चाहिए।) ॥५०॥

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ।
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा ।
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥५१॥

हे चातक मेरे मित्र! जरा ध्यान से (मेरी बात) एक पल सुन। आकाश में बादल तो बहुत हैं पर सब (इच्छा पूर्ण करने में समर्थ) नहीं हैं। कुछ तो वर्षा से पृथ्वी को भली प्रकार तर कर देते हैं, कुछ व्यर्थ गर्जन (मात्र) करते हैं। (इसलिए) जिसे जिसे तू देखता है उन सभी के सामने दीनतापूर्ण याचना मत कर ॥५१॥

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा ।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥५२॥

दुष्टजनों में स्वभाव से ही क्रूरता अकारण लड़ाई झगड़ा पराये धन और पर स्त्री का लोभ और अपने परिवार तथा मित्रों के विषय में सहनशीलता का अभाव पाया जाता है ॥५२॥

अथ दुर्जन निन्दा

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन् ।
मणिनालङ्कृतः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥५३॥

विद्या से अलंकृत भी दुर्जन व्यक्ति का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। (क्योंकि) मणि से भूषित साँप क्या भयावह नहीं होता ॥५३॥

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं ।
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ॥
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे ।
तत्कोनाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥५४॥

गुणवान लोगों का कौन ऐसा गुण है जिस पर दुर्जनों ने कलङ्क नहीं लगाया है ? (क्योंकि वे) लज्जाशील व्यक्ति को मूर्ख ठहराते हैं (उसी प्रकार) व्रत का आचरण करने वाले में दर्प देखते हैं पवित्र जना में छल कपट वीर-पुरुष में क्रूरता मुनि में बुद्धिहीनता, प्रिय भाषी में दीनता ओजस्वी जनों में घमंड वक्ता में वाचालता और स्थिर बुद्धि वालों में आलस्य देखते हैं ॥५४॥

"लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ॥
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः ।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥५५

क्षोभ होने पर और अवगुणों से क्या (अर्थात् अन्य अवगुण
सामने फीके हैं) । (उसी प्रकार)कुटिलता रहने पर पापों से क्या ? स
रहने पर तप से क्या (प्रयोजन) ? मन पवित्र रहने पर तीर्थ का क्या
यदि सज्जनता हो तो अन्य गुणों से क्या (मतलब) ? यदि स्वाभिम
तो आभूषण की क्या (जरूरत) ? यदि सच्चे अर्थ में विद्या है तो स
का क्या अर्थ और अगर बदनामी हो गई है तो मृत्यु क्या उस
कर हो सकती है ॥५५॥

"शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी ।
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो ।
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५

ये सात काँटे मेरे मन में दुःख उत्पन्न करते हैं— दिन में
चन्द्रमा विनष्ट यौवन वाली स्त्री कमलविहीन तालाब, सुन्दर
वान व्यक्ति का निरक्षर मुख,धनवान कृपण, निरन्तर दुर्गति
सदाचारी तथा राजसभा में आये हुये दुर्जन ॥ ५६ ॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥

ऐसे राजाओं का कोई आत्मीय जन नहीं हो सकता जिसका क्रोध प्रचण्ड होता है क्योंकि छू जाने पर अग्नि होम करने वाले को भी जला देती है। अर्थात् क्रोधी के सम्पर्क में आकर भलाई करने वाला भी दुःख का ही भागी होता है, जैसे अग्नि के जलाने वाले को अग्नि ही जला देती है। ॥ ५७ ॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा ।
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥५८॥

सेवा धर्म अत्यन्त कठिन है, योगीजन भी इसका पार नहीं पाते। क्योंकि चुपचाप रहने पर सेवक गूंगा, बोलने पर बकवादी, नजदीक रहने पर धृष्ट, दूर रहने पर अकुशल, क्षमाशील होने पर कायर और असहिष्णु होने पर प्रायः बुरे परिवार का कहलाता है ॥ ५८ ॥

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य
प्राग्जातविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमाप्यते कैः ॥५९॥

ऐसे नीच (मनुष्य) के वश रहकर कौन सुख पा सकता है जो सभी दुष्टों को उभाड़ने वाला और निरंकुश है जिसके पिछले जन्म के दुष्ट कर्मों का उदय हो रहा है जिसने सौभाग्य से सम्पत्ति भी प्राप्त कर ली है (और) जो गुणों से वैर रखता है ॥५९॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम् ॥६०॥

दुर्जनों की दोस्ती दोपहर के पहले की छाया की तरह शुरू में बहुत लम्बी होती है और फिर क्रमशः घटती जाती है और सज्जनों की मित्रता दोपहर के बाद की छाया की तरह पहले छोटी रहती है, फिर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है ॥६०॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥६१॥

हिरन मछली और सज्जन लोग तिनका (खाकर) जल (पीकर) और सन्तोष करके जीवन निर्वाह करते हैं। (परन्तु) बहेलिया धीवर और कुटिल जन निष्प्रयोजन ही इन हिरनों मछलियों और सज्जनों से संसार में द्वेष रखते हैं ॥६१॥

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता ।
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥६२॥

उन विमल गुणवान पुरुषों को नमस्कार है जिनकी इच्छा सज्जनों से सम्पर्क रखने की रहती है, जिनकी दूसरों के गुण में प्रीति रहती है जिनमें गुरुजनों के सामने नम्रता, विद्या में आसक्ति, अपनी पत्नी से ही समागम और निन्दा से डर, भगवान शङ्कर में भक्ति, आत्म संयम की क्षमता तथा दुर्जनों की संगति के परित्याग की भावना रहती है ॥६२॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥६३॥

महात्माओं में स्वभावतः ये गुण होते हैं—विपत्ति में धीरज, उत्कर्ष में क्षमा, सभा में बोलने का कौशल, युद्ध में वीरता, कीर्ति में अभिरुचि तथा शास्त्रों में आसक्ति ॥६३॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥६४॥

तलवार की धार के समान (कठिन) व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया? जिसके कारण उनमें दान को गुप्त रखना, घर पर आए (अतिथि) का सत्कार करना, भलाई करके चुप रहना, दूसरों के उपकार को सभा के बीच कहना, सम्पदा पाकर घमंड न करना तथा दूसरों की चर्चा करते समय अनादर न करना (आ गया) ॥६४॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता ।
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ॥
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतिमधिगतैकव्रतफलं ।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥६५॥

वैभव न होने पर भी स्वभाव से महान् लोगों के यही आभूषण हैं—
य में प्रशंसनीय दान गुरुजनों के चरणों पर झुकने वाला मस्तक,
ख में सत्य वचन भुजाओं में प्रचुर यश हृदय में पवित्रता तथा समस्त
ास्त्रों का ज्ञान रखने वाले कान ॥६५॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ ६६ ॥

महात्माओं का मन ऐश्वर्य में कमल के सदृश कोमल और विपत्ति
में पर्वत की दीर्घ शिला के सदृश कठोर रहता है ॥६६॥

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ॥
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो देहिनाम् ॥६७॥

प्रायः मनुष्यों के निम्न मध्यम तथा उत्तम कोटि के गुण सम्पर्क से
ही उत्पन्न होते हैं (क्योंकि) जिस जल बिन्दु का तपते हुए लोहे पर
पड़ने पर उसके नाम का भी नहीं पता चलता वही कमल के पत्ते पर
पड़ने से मोतियों की तरह विराजित होता है और (वही) स्वाति
नक्षत्र में सागर की सीप में पड़ने पर मोती ही बन जाता है ॥६७॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यदे-
तत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥६८॥

संसार में ये तीन चीजें सत्कर्मियों को ही मिल पाती हैं—ऐसा पुत्र जो अपने सदाचार से पिता को प्रसन्न रखे, ऐसी पत्नी जो अपने पति का सदा हित चाहे तथा ऐसा मित्र जो दुख-सुख में समान भाव रखे ॥६८॥

एको देवः केशवो वा शिवो वा
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥६९॥

देवता एक ही (होना चाहिए अर्थात् पूजना चाहिए) केशव या शङ्कर, मित्र एक ही (होना चाहिए) राजा या तपस्वी, निवास एक ही होना, नगर या वन तथा स्त्री एक ही (ग्रहण करना चाहिए)—रूपवती नारी या गुफा ॥६९॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः।
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ॥
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥७०॥

ऐसे विस्मयकारी आचरण करने वाले अत्यन्त सम्माननीय सज्जन किसकी श्रद्धा के पात्र न होंगे जो नम्रता के कारण ऊँचे उठते हैं, दूसरों का गुणगान करके ही अपने गुणों की ख्याति करते हैं, निरन्तर अच्छी तरह दूसरों के लिए प्रयास करके ही अपने कार्य सिद्ध करते हैं और रूखे वचन बोलने वाले दुष्टों के मुख को अपनी क्षमा से ही मलिन कर देते हैं ॥७०॥

भवन्ति नम्रास्तरव फलोद्गमै-
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घना ।
अनुद्धता सत्पुरुषा समृद्धिभि
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७१॥

धन-सम्पत्ति से अच्छे लोग उद्दण्ड नहीं होते (विनत हो जाते हैं) जिस
प्रकार फलों के आ जाने से वृक्ष झुक जाते हैं और नए जल से अपूरित
होने पर बादल धरती की ओर झुक जाते हैं। (क्योंकि) परोपकार करने
वालों की यही प्रकृति होती है ॥७१॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥७२॥

दयालु जनों का शरीर परोपकार से न कि चन्दन से विराजित होता
है। (ठीक वैसे ही जैसे) कान शास्त्र (सुनने) से न कि कुण्डल (धारण करने)
से हाथ दान (करने) से न कि कंगन (पहनने) से (सुशोभित होता है)।७२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥

साधुजन अच्छे दोस्त के ये लक्षण बताते हैं—वह पाप से हटाता
है हित कार्य में संलग्न कराता है छिपाने वाली बातों को गुप्त रखता है,
गुणों को प्रकाशित है, विपत्ति में साथ नहीं छोड़ता और समय पड़ने पर
(सहायता भी) देता है ॥७३॥

पद्माकर दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति करवचक्रवालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जल ददाति
सन्त स्वय परहिते सुकृताभियोगा ॥७४॥

साधु पुरुष स्वयं ही दूसरे के हित के लिए उद्यम करते हैं। (क्योंकि) सूर्य (बिना प्रार्थना के) कमल को खिला देता है तथा बादल भी बिना याचना किए ही पानी देता (बरसाता) है ॥७४॥

एके सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत स्वार्थाविरोधेन ये ॥
तऽमी मानुषराक्षसा परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये निघ्नन्ति निरर्थक परहित ते के न जानीमहे ॥७५

जो अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरे के कार्यों का सम्पादन करते हैं वे सत्पुरुष हैं जो अपने स्वार्थ से न टकराने वाले परार्थ का पालन करते हैं वे साधारण कोटि के (व्यक्ति) हैं जो अपने हित के लिए दूसरों का नु... करते हैं वे मनुष्यरूप में दानव हैं (परन्तु) जो बिना मतलब ... दूसरों के हित का हनन करते हैं उन्हें क्या कहा जाय यह मैं नहीं जानता ॥७५॥

क्षारेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ता पुरा तेऽखिला ।
क्षीर तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुत ॥
गन्तु पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापद ।
युक्त तेन जलेन शाम्यति सता मैत्रीपुनस्त्वीदृशी ॥

सत्पुरुषों की मित्रता तो फिर ऐसी ही होती है (जैसी दूध और पानी की) (क्योंकि) दूध ने जल से मिलने पर अपने सभी गुण उसे दे दिये। दूध को जलता देखकर जल ने अपने शरीर को आग में हवन कर दिया (अर्थात् दूध के साथ पानी जल गया) (फिर) दूध ने भी अपने मित्र (जल) को दुःख में देखकर आग में गिरना चाहा (और फिर) यह उचित ही था कि (छींटे पड़ने पर अपने मित्र) जल से (उसे आया जानकर दूध) शान्त हो गया ॥७६॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि बडवानलः सह समस्त संवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

अहो समुद्र का शरीर अत्यन्त विशाल तथा भार सहने में समर्थ है। (क्योंकि समुद्र में) एक तरफ विष्णु सोते हैं एक तरफ उनके (विष्णु) वैरी राक्षसों का कुल सोता है, एक ओर शरण चाहने वाले पर्वतों का समूह पड़ा है और फिर एक ओर प्रलयङ्कर बडवानल है (अर्थात् समुद्र की तरह सत्पुरुष भी सहनशील तथा विशाल हृदय वाले होते हैं) ॥७७॥

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं माकृथाः ।
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ॥
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥७८॥

आलस्यको छोड़ो क्षमा का पालन करो घमंड को त्याग दो, ... में आसक्ति मत करो सच बोलो, सज्जनों का आचरण अपनाओ ... पुरुषों की सेवा करो माननीय लोगों का सम्मान करो वैरियों ... अनुनय-विनय करो अपने गुणों को प्रकाशित करो, अपने यश की ... करो (तथा) विपत्ती जनों पर दया रखो। (क्योंकि) यही सज्जनों ... बताया है ॥७८॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूष पूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभि प्रीणयन्त ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्य
निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्त कियन्त ॥७९॥

ऐसे कितने सज्जन हैं (जिनका) मन वचन और शरीर सत्कर्म रूपी अमृत से आपूरित है जो तीनों लोकों को उपकारों से प्रसन्न रखते ... तथा नित्य दूसरों के परमाणु (स्वल्प) गुणों को पहाड़ सा बड़ा मानकर अपने मन में प्रफुल्लित होते हैं ॥७९॥

कि तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रितास्च तरवस्तरवस्त एव ।
म न्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दना स्यु ॥८०॥

(हमें) उस स्वर्ण के सुमेरु और चाँदी के कैलास पर्वतों से क्या (प्रयोजन) जिसके सहारे रहने वाले पेड़ पेड़ ही रह जाते हैं ? हम तो मलयाचल (की ही प्रभुता) को मानते हैं जिसके आश्रित कंकोल नीम तथा कुटज (आदि सभी वृक्ष) चन्दन हो जाते हैं ॥८०॥

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८१॥

धैर्यवान् अपने निश्चित फल को बिना प्राप्त किए रुकते नहीं। (क्योंकि) अत्यधिक मूल्य वाले रत्न पाकर (भी) देवताओं ने संतोष नहीं किया (और) न भयावह विष से ही वे डरे। बिना अमृत पाए (देवताओं) ने विश्राम नहीं किया ॥८१॥

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनं ।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ॥
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥८२॥

मनस्वी तथा सफलता चाहने वाले व्यक्ति न दुःख और न सुख की परवाह करते हैं। (वे) कभी जमीन पर (ही) सो रहते हैं, कभी पलंग पर शयन करते हैं, कभी साग खाकर ही रहते हैं, कभी चावल आदि का भोग करते हैं, कभी कथरी ही धारण कर लेते हैं और कभी शानदार वस्त्र पहनते हैं ॥८२॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो ।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता ।
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८३॥

सभी गुणों का अलंकार और मूल सदाचार है। (जैसे) वैभव का भूषण सज्जनता वीरता का वाणी पर नियंत्रण ज्ञान का शान्ति शास्त्र (अध्ययन) का विनय धन का योग्य स्थान पर व्यय तपस्या का क्रोधाभाव स्वामित्व का क्षमा (तथा) धर्म का निश्छल होना है ॥८३

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८४॥

धर्मवान् पुरुष उचित मार्ग से पग नहीं हटाते चाहे नीतिज्ञ (उनकी) निन्दा करें या प्रशंसा, चाहे लक्ष्मी (धन) पर्याप्त रूप में आये या चली जाय; (और) चाहे (उनकी) मृत्यु आज ही हो अथवा युगान्तर में ॥८४॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा ।
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ॥
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा ।
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८५॥

हे पुरुषो! देखो मनुष्यों के उत्थान-पतन में भाग्य ही कारण है (क्योंकि) निराश और पिटारे में पड़े रहने से पीड़ित शरीर वाले तथा भूख से शिथिल इन्द्रियों वाले साँप के मुख में रात्रि को पिटारे में छेद करके एक चूहा गिर पड़ा। उस (चूहे) के मांस से संतृप्त होकर वह (साँप) शीघ्र ही उसी (छेद) के रास्ते से बाहर चला गया ॥८५॥

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥८६॥

सदाचारी लोगों की मुसीबतें स्थायी नहीं होतीं। वे क्षणभंगुर होती हैं (क्योंकि) हाथ से पटका हुआ गेंद ऊपर ही उछलता है ॥८६॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति ॥८७॥

मनुष्यों के शरीर में स्थित आलस्य (उनका) बड़ा भारी दुश्मन है। (और) उद्योग के समान (दूसरा कोई) बन्धु नहीं जिसे अपना लेने से दुःख नहीं होता ॥८७॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥८८॥

संसार में वे महात्मा विपत्ति पड़ने पर सन्तप्त नहीं होते (जो) इस प्रकार की समझ रखते हैं कि काटा हुआ वृक्ष फिर उग जाता है (और) क्षीण हुआ भी चाँद फिर विकसित होता है ॥८८॥

अथ दैव प्रशंसा

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः ।
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ॥
इत्यश्चर्यबलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नः परैः सङ्गरे ।
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥८९॥

भाग्य का ही शरण अच्छा है पौरुष व्यर्थ है, पुरुषार्थ को धिक्कार है, क्योंकि) ऐसा इन्द्र धन तथा बल होने पर भी शत्रुओं से युद्ध में हारता रहा जिसके पास बृहस्पति सरीखे नेता वज्र जैसा अस्त्र देवताओं की सेना स्वर्ग जैसा गढ़ ऐरावत सरीखा हाथी और भगवान कृष्ण की पूरी कृपा रहती थी ॥८९॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधियाः भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥९०॥

(यद्यपि) मनुष्यों के कर्म के अधीन (ही) फल होता है (और) बुद्धि (भी) कर्म के अनुकूल होती है, तथापि बुद्धिमानों को खूब सोच-विचार कर कार्य करना चाहिए ॥९०॥

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके ।
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ॥
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः ।
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥९१॥

प्रायः जहाँ-जहाँ भाग्यहीन (व्यक्ति) जाता है वहाँ-वहाँ विपत्तियाँ जाती हैं। (उदाहरण स्वरूप) सूर्य की रश्मियों से सिर के संतप्त होने पर एक गंजा (व्यक्ति) छाया की इच्छा करता हुआ भाग्यवश ताल (के पेड़) की जड़ के पास गया। वहाँ भी उसके सर पर एक बड़ा भारी फल गिर पड़ा (और उसका सर) बड़ी आवाज के साथ टूट गया ॥९१॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥९२॥

चाँद और सूरज को ग्रह से पीड़ित हाथी और साँप को बन्धन में (बंधा हुआ) तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को दीन देखकर मेरा तो यही मत है कि भाग्य ही बलवान् है ॥९२॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥९३॥

अरे! यह दुःख की बात है और ब्रह्मा की मूर्खता (दिखाती) है कि (वह पहले तो) समस्त गुणों के कोष रूप पुरुषरत्न की उत्पत्ति करता है, तब भी उसे क्षणभंगुर बना देता है ॥९३॥

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं ।
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ॥
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम् ।
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥९४॥

भाग्य ने पहले ही जो ललाट में लिख दिया उसे मिटाने में कौन समर्थ है? (क्योंकि) यदि करीर नामक वृक्ष में पत्ते नहीं आते तो (इसमें) मधुमास का क्या दोष? यदि दिन में भी उल्लू नहीं देख पाता तो (इसमें) सूर्य का क्या दोष; (और) अगर चातक के मुंह में जल की धाराएं नहीं गिरतीं तो (इसमें) बादल का क्या दोष ॥९४॥

अथ कर्मप्रशंसा

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥९५॥

हम देवताओं को प्रणाम करते हैं, (परन्तु) वे भी भाग्य के वश में हैं। (अतएव) विधाता (ही) वन्दनीय है। (पर) वह भी पूर्व निश्चित कर्म के अनुसार फल देता है। फल (तो) कर्म के अधीन है, देवताओं और भाग्य से क्या (प्रयोजन)? (अतः) कर्म को नमस्कार है जिससे भाग्य भी पार नहीं पाता ॥९५॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे ।
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ॥

रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः ।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥९६॥

उस कर्म को नमस्कार है जिसने ब्रह्मा को कुम्हार की तरह निरन्तर ब्रह्माण्ड-रचना में प्रवृत्त किया, जिसने विष्णु को बारम्बार दस अवतार लेने की आफत में डाल दिया, जिसने रुद्रस्वरूप शङ्कर को हाथ में कपाल लेकर भीख माँगने के लिए बाध्य किया और जिसने सूर्य को गगन में सदैव भ्रमण करने पर विवश किया ॥९६॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥९७॥

पहले की तपस्या से उपार्जित भाग्य ही समयानुकूल मनुष्य को वृक्ष की तरह फल देता है। पुरुष को न तो रूप, न परिवार, न सदाचार, न विद्या और न यत्नपूर्वक की गई सेवा ही फल देती है ॥९७॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥९८॥

पूर्व जन्म में किये गये सत्कर्म ही वन में, युद्ध में, शत्रु, पानी और आग के बीच में, महासागर में अथवा पहाड़ की चोटी पर, असावधानी से सोते में अथवा विकट स्थिति में (पुरुष की) रक्षा करते हैं ॥९८॥

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः ।
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ॥
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितम् ।
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥९९॥

हे सज्जन ! यदि अभीष्ट फल का भोग करना चाहते हो तो उस भगवती सत्क्रिया की पूजा करो जो दुष्टों को साधु बना देती है और मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को मित्र, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष और जहर को अमृत बना देती है। कष्टों से पूर्ण बहुत सारे गुणों में व्यर्थ विश्वास मत करो ॥९९॥

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१००॥

बिना सोचे विचारे बहुत जल्दी में किए गये काम का फल मृत्यु पर्यन्त हृदय को काँटे के समान सन्तप्त करता है। (अतएव) कर्मठ बुद्धिमान् व्यक्ति को कार्य के शुरू में (ही) परिणाम का विचार यत्नपूर्वक कर लेना चाहिए, चाहे (वह कार्य) उपयोगी हो या अनुपयोगी ॥१००॥

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति च लशुनं चान्दनैरिन्धनौघैः ।
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः ॥
छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्ता-
त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥१०१॥

इस कर्मभूमि (संसार) में आकर जो अभागा तपस्या (साधना) नहीं करता वह मानो मरकत मणि के पात्र में लहसुन को चन्दन की लकड़ी से पकाता है, सोने के हल से खेत को आक के पौधे के लिए जोतता है, (और कोदो (एक निम्न कोटि का खाद्यान्न) के चारों ओर कपूर के टुकड़े काटकर घेरा बनाता है ॥१०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं
शत्रून्जयत्वाहवे ।
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला
विद्याः कलाः शिक्षतु ॥
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्
कृत्वा प्रयत्नं परं ।
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो
भाव्यस्य नाशः कुतः ॥१०२॥

इस संसार में अनहोनी बात नहीं होती (और) कर्म के अधीन जो होना ही है उसका अन्त (भी) कहां? चाहे (कर्मगति को टालने के लिए) जल में डूब जाओ या सुमेरु की चोटी पर चढ़ो या युद्ध में दुश्मनों को जीत लो या व्यापार, खेती और सेवा-कर्मादि सभी विद्याओं और कलाओं को सीख लो (और) चाहे विस्तृत आकाश में चिड़ियों की तरह बड़े आयास से विचरण करो ॥१०२॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं ।
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा ।
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०३॥

जिस व्यक्ति के पास पूर्व जन्म का बहुत सा पुण्य हो उसके लिए भयङ्कर जंगल अच्छा नगर बन जाता है, सभी लोग उसके सुहृद् हो जाते हैं तथा उसके पास की सारी पृथिवी रत्नों से भरी-पूरी हो जाती है ॥१०३॥

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं
प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः ।
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता
का धर्मतत्त्वे रतिः ॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा
कानुव्रता किं धनं ।
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं
राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१०४

लाभ किस में है? गुणी लोगों के सम्पर्क में। दुःख क्या है? मूर्खों का साथ। हानि क्या है? समय पर चूक जाना। दक्षता क्या है? धर्म में आसक्ति। शूरवीर कौन है? इन्द्रियों पर विजय पाने वाला। प्रेयसी कौन है? अपने अनुकूल रहने वाली। धन क्या है? विद्या। सुख क्या है? परदेश न जाना। राज्य क्या है? अपनी हुकूमत ॥१०४॥

मालतीकुसुमस्येव द्वे गती इह मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥१०५

इस संसार में मनस्वी जनों की मालती पुष्प के समान दो गतियाँ हैं—या तो सब लोगों के मस्तक पर अथवा जंगल में ही बिखर

(अर्थात् मनस्वी लोग या तो संसार में यश की पराकाष्ठा पर रहेंगे या फिर वनवास ग्रहण करेंगे) ॥१०५॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥१०६॥

पृथिवी ऐसे लोगों से कहीं-कहीं (बहुत कम) अलंकृत होती है (जो) कटु वचन बोलने में दरिद्र अपनी पत्नी से (ही) तृप्त (तथा) पर-निन्दा करने में अनासक्त होते हैं ॥१०६॥

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते-
र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥१०७॥

दुःख में पड़ने पर भी धर्यवान् पुरुष की धीरता को (कोई) दूर नहीं कर सकता। (क्योंकि) अधोमुख होने पर भी आग की लपट नीचे नहीं जाती ॥१०७॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य ।
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ॥
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥१०८॥

तीनों लोकों को जीतने वाला (वास्तविक अर्थ में) धर्यवान् पुरुष वह है जिसके मन को कामिनियों के कटाक्षरूपी तीर बेधते नहीं, जिसके

जिस को क्रोधरूपी अग्नि की आँच जलाती नहीं (और) जिसको लोभ के फन्दे से कभी भोग-विलास खींच नहीं पाते ॥१०८॥

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ॥
क्रियते भास्करेणेव परिस्फुरिततेजसा ॥१०९॥

जैसे अकेला सूर्य (सारे संसार में) प्रकाश प्रस्फुटित कर देता है (वैसे ही) अकेला योद्धा सारी पृथिवी को अपने पैरों के नीचे (अधीन) कर लेता है ॥१०९॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधि
कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरु स्वल्पशिलायते मृगपति
सद्य कुरङ्गायते ॥
व्यालो माल्यगुणायते विषरस
पीयूषवर्षायते ।
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं
शीलं समुन्मीलति ॥११०॥

जिस मनुष्य के अङ्ग में (व्यक्तित्व में) सारे संसार को अच्छा लगने वाला सदाचार प्रस्फुटित होता है उसके लिए आग (भी) पानी बन जाता है सुमेरु पर्वत छोटी शिला का रूप धारण कर लेता है शेर तुरन्त हिरन बन जाता है, (तथा) जहर अमृत की वर्षा की तरह हो जाता है ॥११०॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥१११॥

तेजस्वी तथा सच्चाई का व्रत धारण करने वाले पुरुष प्राण आसानी से दे देते हैं पर लज्जा आदि गुणों के समूह को पैदा करने वाली अपनी माँ की तरह शुद्ध हृदय वाली और अपने अधीन रहने वाली प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते ॥१११॥



शृङ्गारशतकम्

मंगलाचरणम्

शम्भुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥१॥

उन कुसुमायुध भगवान कामदेव को नमस्कार है जिसने शिव ब्रह्मा और विष्णु को (भी) स्त्रियों के कार्य—अर्थात् सृष्टि, पालन-पोषण आदि—करने के लिए निरन्तर दास बना रखा है और जिसका चरित्र (स्वयं अज्ञात) अनिर्वचनीय होने के कारण विलक्षण है ॥१॥

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया
पराङ् मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥२॥

मन्द-मन्द मुसकाना, शर्माना भयभीत होना मुख फेर लेना अर्द्ध कटाक्ष से देखना (अर्थात् कनखियों से देखना) मधुर वचन बोलना ईर्ष्या

द्वेष के कारण कलह करना और अनेक प्रकार के अभिनय करना (लोक-भाषा में नखरे करना)—इन सभी भाव भङ्गिमाओं के प्रदर्शन के कारण स्त्रियाँ निश्चय ही बन्धन स्वरूप होती हैं ॥२॥

भ्रूचातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः
स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः ।
लीलामन्दं च स्थितं प्रस्थितं च
स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ॥३॥

भौंहें फेरने की कुशलता के कारण मिचे हुए नेत्रों से कटाक्ष करना स्नेहपूर्ण बातें करना शरमा कर हँसना केलि करते हुए मन्द-मन्द चलना झट रुक जाना और झट चल पड़ना—यही स्त्रियों के अलङ्कार भी हैं और यही शस्त्र भी हैं। (अर्थात् इन्हीं भावों से स्त्रियाँ पुरुषों को आकर्षित करती हैं और इन्हीं से उनका शिकार भी करती हैं) ॥३॥

क्वचित्सुभ्रूभङ्गं क्वचिदपि च लज्जापरिणतं
क्वचिद्भीतित्रस्तं क्वचिदपि च लीलाविलसितं ।
नवोढानामेभिर्वदनकमलैर्नेत्रचलितं
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दिश ॥४॥

नवविवाहित स्त्रियों के मुखकमल में स्थित (भ्रमर रूपी) नेत्र जो कभी भौहों से कटाक्ष करते हैं कभी लज्जा से विमर्दित होते हैं कभी भय भीत रहते हैं और कभी लीला से ही विलासों को धारण करते हैं नील कमल के समूह-से प्रतीत होते हैं ॥४॥

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने ।
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानाञ्चयः ॥

वक्षोजाविभकुम्भसंभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ॥५॥

चन्द्रमा को फीका करने वाला मुख कमल का उपहास करने में समर्थ नेत्र स्वर्ण की कान्ति को मन्द करने वाला रूप भ्रमर-पुञ्ज को जीतने वाले केश गजमस्तक की शोभा हरने वाले कुच-कुम्भ और विशाल भारी नितम्ब तथा मन को हरने वाली कोमल वाणी—ये सब युवतियों के स्वाभाविक भूषण हैं ॥५॥

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः ।
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ॥
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः ।
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिह न हि रम्यं मृगदृशः ॥६॥

यौवन आते ही मृगनयनी स्त्रियों में क्या-क्या हाव भाव नहीं उत्पन्न होते—मुख में मन्द मन्द मुस्कान सीधे और चञ्चल नेत्रों में कैसि नयी-नयी विलास भरी उक्तियों में रसपगल बातें मय कमल-पत्र के समान मृदु और लीलाभरी गति—सभी आ जाते हैं ॥६॥

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखं ।
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ॥
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ॥७॥

रसिकों के लिए (इन्द्रियजन्य गुणों में) उत्तम क्या-क्या है? देखने योग्य वस्तुओं में मृगनयनी (स्त्रियों अथवा नायिकाओं) का प्रेम से प्रफुल्लित

मुख सूंघने की वस्तुओं में उनका उच्छ्वास सुनने की वस्तुओं में उनकी वाणी स्वाद लेने योग्य वस्तुओं में उनके अधरपल्लवों का रस स्पर्श की वस्तुओं में उनका शरीर और ध्यान करने योग्य वस्तुओं में उनका यौवन और सतत विलास ॥७॥

एता स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झंकारनूपुररवाहृत राजहंस्य ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृश कटाक्षैः ॥८॥

ऐसी युवतियाँ भयभीत और मुग्ध हरिणी के समान कटाक्ष करके किस का मन नहीं हर लेतीं जिनके चञ्चल कङ्कणों के शब्द क्षुद्रघण्टिका की ध्वनि और नूपुर के झंकार से राजहंसिनियों की चाल जीत ली है ॥८॥

कुंकुमपङ्ककलंकितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा ।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं न वशीकुरुते भुवि रामा ॥९॥

ऐसी सुन्दरी पृथिवी पर किसको अपने वश में नहीं कर लेती जिसका शरीर केसर और चन्दन के लेप से सुशोभित है, जिसके गौर उरोजों पर हार विलसित होता है और जिसके चरणकमलों के नूपुर राजहंस के सदृश ध्वनि करते हैं ॥९॥

नूनं हि ते कविवरा विपरीत बोधा
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् ।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबला कथं ताः ॥१०॥

वे कविशिरोमणि निश्चय ही उल्टी बुद्धि वाले हैं जिन्होंने स्त्रियों को सदा अबला कहा है। वे भला अबला कैसे हैं जिनकी चञ्चल पुतलियों के कटाक्ष से इन्द्रादि भी हार मानते हैं ॥१०॥

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥११॥

कामदेव निश्चय ही उनका (स्त्री का) आज्ञाकारी सेवक है, क्योंकि जिस पर वे आँखों से इशारा कर देती हैं उसी को वह (कामदेव) वश में कर लेता है ॥११॥

नेत्रा संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने ।
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः ॥
मुक्तानां सततादिवासरुचिरं वक्षोजकुम्भद्वय-
मित्थं तन्वि वपुः प्रशांतमपि ते क्षोभं करोत्येव नः ॥१२॥

हे तन्वंगी! तेरा शरीर शान्तस्वरूप होने पर भी मुझ में तो अनुराग ही उत्पन्न करता है, (क्योंकि तेरे) केश संयमित हैं (श्लिष्ट अर्थ—संयम का पालन करते हैं) नेत्र (विशाल होने के कारण) कानों को पार कर गये हैं (श्लिष्ट अर्थ—'श्रुति' अर्थात् वेदादि में पारङ्गत हैं) मुखतः पवित्र दन्त पंक्ति से मुख का आन्तरिक भाग व्याप्त है (श्लिष्ट अर्थ—स्वभाव से पवित्र 'द्विजानां' अर्थात् ब्राह्मणों के समूह से व्याप्त है), दोनों स्तन-कलश मोतियों के निरन्तर पास रहने से सुशोभित होते हैं (श्लिष्ट अर्थ—'मुक्तानां' अर्थात् मुक्त या विरक्त जनों के निरन्तर पास रहने से सुशोभित होता है) ॥१२॥

मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया हरसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥१३॥

हे सुन्दरी ! तेरी यह धनुर्विद्या में कुशलता कैसी अद्भुत दीख पड़ती है जो मन को गुणों से (अर्थात् (१) चारित्रिक विशेषताओं से अथवा (२) रस्सी से) ही बाँध देती है (बाण की आवश्यकता नहीं पड़ती) ॥१३॥

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥१४॥

दीपक अग्नि तारे, सूर्य और चन्द्रमा—इन सब के होने पर भी एक मृगनयनी स्त्री बिना यह संसार मेरे लिए अन्धकार स्वरूप है ॥१४॥

मद्वृत्तः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते ।
रागान्धेषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ॥
सौभाग्याक्षरपङ्क्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं ।
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केन सा ॥१५॥

यह तुम्हारे वृत्त आकार स्तनों का भार चञ्चल नयन चपल भ्रूलता यह अधरपल्लव आदि प्रेमान्ध जनों को पीड़ा दें तो दें क्योंकि कामदेव के हाथ की लिखी (तेरे मस्तक में) सौभाग्य के अक्षरों की पंक्ति ही है परन्तु मध्यस्थ रोमपंक्ति जो अधिक सन्ताप देती है, वह क्यों ?(व्यंग्यार्थ—उन्नत चञ्चल तथा रागयुक्त वस्तुएं जो व्यथा देती हैं वह तो संगत ही है, परन्तु मध्यस्थ—अर्थात् जिसका कार्य कलहादिजनित दुःख से निवारण करना है वह जो सन्ताप देता है सो विपरीत है) ॥१५॥

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ॥१६॥

वह (स्त्री) ऐसी सुशोभित होती है मानो वह ग्रहों से युक्त हो क्योंकि उरोजों के भार के कारण वह गुरु के सदृश है (साधारण अर्थ में उसके

कुच-कुम्भ अत्यन्त कठोर तथा भारी है, श्लिष्ट अर्थ में वह बृहस्पति के के समान है), दीप्तिमान मुख के कारण वह चन्द्रमा जैसी है (साधारण अर्थ में उसका मुख चन्द्रमा के समान है श्लिष्ट अर्थ में वह चन्द्रमा नामक ग्रह से सुशोभित है) तथा मन्दगामी चरणों के कारण वह शनि नामक ग्रह के सदृश है ॥१६॥

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनं विहारि ।
वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम्॥
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा ।
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥१७॥

यदि उसके (कामिनी के) उरोज कठोर हैं यदि उसका जघन-प्रदेश रमणीय और उसका मुख सुन्दर है तो (उन्हें देखकर) हे मन ! तू व्याकुल क्यों होता है ? यदि तेरी उनमें आसक्ति है तो पुण्य-कर्मों का अनुसरण कर, क्योंकि बिना पुण्य के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती ॥१७॥

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य-
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणा-
मुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥१८॥

हे सज्जनो ! मत्सर से मुक्त होकर तथा मर्यादा का ध्यान रखते हुए विचारपूर्वक यह बताइए कि पर्वतों के ही नितम्ब (मध्य भाग) सेवन करने योग्य हैं (अर्थात् वैराग्य धारण करना ही श्रेयस्कर है) अथवा काम देव के हाव-भाव से मुस्कराती हुई कामिनियों के नितम्ब ही उपभोग्य हैं (अर्थात् प्रेम शृङ्गार का ही मार्ग अच्छा है) ॥१८॥

प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगल्भा ततो ।
निःशंकाङ्गविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥२५॥

वस्तुतः कुलस्त्री से ही समागम रमणीय होता है, (क्योंकि) वह पहले तो एक बार नहीं-नहीं करती है (अर्थात् अत्यधिक लज्जा का अभिनय करती है) फिर विलास की कामना जागृत करती है, फिर लज्जा से शरीर को शिथिल कर देती है, उसके अनन्तर अधीर हो उठती है फिर प्रेम से भीगे हुए अत्यन्त प्रिय एकान्त-विलास के लिए लज्जा (एकदम) छोड़ देती है और फिर निःशङ्क होकर अङ्गों के बलपूर्वक कर्षण आदि में सुख प्रदान लेती है ॥२५॥

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितखेदस्विन्नगण्डस्थलीना-
मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥२६॥

ऐसी स्त्रियों के अधर मधु का पान भाग्यशाली पुरुष ही कर पाते हैं जो (रति के समय) वक्षःस्थल पर लेट जाती हैं जिनके सुगन्धित केश बिखर जाते हैं जिनकी कलियों की तरह मिची हुई आँखें अधमुंदी रहती हैं और जिनके कपोलों पर सम्भोग से उत्पन्न श्रम-सीकर छलक पड़ते हैं ॥२६॥

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं कुरुते ।
मिथुनैर्मिथोवधारितमवितथमिदमेव कामनिर्वहणम् ॥२७॥

वस्तुतः वही पुरुष काम-वासना का यथेष्ट निर्वाह कर पाता है जो अधमुंदी आँखों वाली स्त्रियों से परस्पर समागम करके उन्हें रति-विलास की तृप्ति प्रदान करे ॥२७॥

ग्रीष्मऋतु में सुकर्म करने वाले लोग इन सभी वस्तुओं से आनन्द उठाते हैं—मोहक सुगन्धों वाली माला, पंखे की हवा, चांदनी, पुष्पों का पराग, सरोवर, चन्दन की धूलि, उज्ज्वल मदिरा, राजप्रासाद की शुभ्र छत, झीना वस्त्र और कमलनयनी स्त्रियाँ ॥३९॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभिः ।
स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने
करोत्यन्तःक्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ॥४०॥

चूनापुती के कारण उज्ज्वल गृह, निर्मल किरणों वाला उत्कृष्ट चन्द्रमा, प्रेयसी का मुखकमल, अभिराम सुगन्धों वाला चन्दन, मन को प्रसन्न करनेवाली सुरभित पुष्पों की माला—ये सभी वस्तुएं अनुरक्त पुरुषों को तो विक्षुब्ध कर देती हैं परन्तु विषयवासनाओं से पराङ्मुख लोगों को नहीं ॥४०॥

अथ वर्षासमयः

तरुणी वेषोद्दीपितकामा विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः ।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् कुरुते कस्य न हर्षम् ॥४१॥

वर्षाऋतु यह तरुणी वासना को उद्दीप्त करके जुही की सुगन्ध तथा उन्नत मेघों (तरुणी के पक्ष में उरोजों) के भार से बोझिल होकर किसे प्रमुदित नहीं करती ॥४१॥

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः ।

शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ता
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥४२॥

सुखी तथा दुःखी सभी लोगों को बादलों से व्याप्त आकाश कन्दलों से भरी पृथ्वी नये-नये कुटज और कदम्ब के फूलों से सुगन्धित पवन और मोरों के झुण्ड के कलरव से रमणीय वन-प्रदेश उत्कण्ठित कर देते हैं ॥४२॥

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूरा।
वसुधा कंदलधवला दृष्टिं पथिक क्व यातु संतप्त ॥४३॥

ऐसे समय में विरही पथिक कैसे सम रहे जब ऊपर तो घनेरे बादल रास्ते में नाचते हुए मोर और कन्दलों से भरी पृथ्वी है (अर्थात् जब सभी विरह को उद्दीप्त करने वाले उपकरण उपस्थित हैं तो पथिक सुखी कैसे रह सकता है ॥४३॥

इतो विद्युद्वल्ली विलसितमित केतकितरो
स्फुरद्गन्ध प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमित ।
इत केकिक्रीडाकलकलरव पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसा संभृतरसा ॥४४॥

वर्षा में स्त्रियाँ विरह के दिनों को कैसे बितायेंगी जब कहीं तो बिजली की लता का विलास है और कहीं उत्कट सुगन्धों वाले केतकी के वृक्ष हैं कहीं जल से ओत-प्रोत बादल गर्जन कर रहे हैं और कहीं मयूरों के विलास की कलकल-ध्वनि गूँज रही है ॥४४॥

असूचीसंचारे तमसि नभसि प्रौढजलद-
ध्वनिप्राप्ते तस्मिन् पतितदृषदानीरनिचये ।

सी-सी शब्द उत्पन्न करते हैं चोली से रहित वक्षस्थल पर स्तनों में रोमाञ्च पैदा करते हैं, आँखों को कम्पित करते और स्थूल जघन-प्रदेश से वस्त्रों को हटा देते हैं ॥४६॥

केशानाकुलयन्दृशो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिपा-
न्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नालिंग्य कम्पं शनैः ॥
वारंवारमुदारसीत्कृतकृतो दन्तच्छदान्पीडय-
न्प्रायः शैशिर एष संप्रति मरुत्कान्तासु कान्तायते ॥५०॥

शिशिर का पवन इस समय पति का सा आचरण करता है (क्योंकि यह कामिनियों के) बालों को विस्रस्त और आँखों को मुकुलित करता है, बलात्कार से वस्त्र उड़ा देता है और शरीर को रोमाञ्चित कर देता है, आलिंगन द्वारा कम्पन उत्पन्न करता और बार-बार सी-सी करते हुए होठों को सताया करता है ॥५०॥

असाराः सन्त्वेते विरतिविरसायासविषया
जुगुप्स्यन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।
तथाप्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियामप्यतिबल-
स्तदीयोऽनाख्येयः स्फुरति हृदये कोऽपि महिमा ॥५१॥

यदि लोग विषय-वासनाओं की सारहीन विरक्ति से विमुख करने वाला तथा सभी दोषों का घर समझकर निन्दा करें तब भी इनकी बड़ी महत्ता है (क्योंकि) ये उनके हृदय में भी प्रकट होती हैं जिनकी बुद्धि अनिर्वचनीय ब्रह्म चिन्तन में स्थिर हो गई है ॥५१॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामाप्तगुरवो
विदग्धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः ।

तथाप्येतद्भूमौ नहि परहितात्पुण्यमधिकं
नचास्मिन्संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम् ॥५२॥

आप उन लोगों के श्रेष्ठ गुरु हैं जिनकी बुद्धि वेद-वेदान्त में स्थिर हो गई है और हम भी काव्यशास्त्र के विषय में वार्तालाप करने वाले कवियों के अनुयायी हैं फिर भी इस जगत में परमार्थ से बढ़कर दूसरा पुण्य नहीं है और न ही कमलनयनी स्त्रियों से बढ़कर कोई सुन्दर वस्तु (अर्थात् या आपको मानना ही पड़ेगा) ॥५२॥

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-
र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम् ।
अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥५३॥

इस संसार में अर्थहीन बहुत प्रलाप करने से क्या प्रयोजन ? यहाँ तो मनुष्यों के लिए सदा सेवन करने योग्य केवल दो वस्तुएं हैं—एक तो अपूर्व उन्माद के कारण केलि-विलास की अभिलाषी तथा उरोजों के भार से क्लान्त सुन्दरियों का यौवन ही अथवा वन ही ॥५३॥

अथ विरक्त वर्णनम्

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत् ।
नान्यन्मनोहारिनितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥५४॥

हे पुरुषो ! मैं बिना पक्षपात किये सच कहता हूँ कि यह तथ्य सभी लोगों को विदित है कि अच्छे नितम्बों वाली स्त्रियों के समान न तो कोई चीज रमणीय है और न दुःखों की जड़ ही ॥५४॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपि बाढं
संसारेऽस्मिन् भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती
वामाक्षीणां भवति कुटिलभ्रूलता कुञ्चिकेव ॥६२॥

इस संसार में कोई शास्त्रज्ञ प्रशस्त विनय वाला और ज्ञानी भले ही क्यों न हो परन्तु सद्गति का पात्र विरला ही पुरुष होता है क्योंकि सुन्दर नेत्रों वाली स्त्रियों की तिरछी भौंहें नरक के दरवाजे को कुञ्जी के समान खोल देती हैं ॥६२॥

कृश काण खञ्ज श्रवणरहित पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्न कृमिकुलशतैरावृततनु ।
क्षुधाक्षामो जीर्ण पिठरजकपालार्पितगल
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदन ॥६३॥

कामदेव मरे हुए को भी मारता है क्योंकि दुबले काने लंगड़े-बहिरे, पुच्छविहीन ऐसे मनुष्य जिसके घाव में राध भरी हो और शरीर पर सैंकड़ों कीड़े व्याप्त हों तथा भूख से जर्जर वृद्ध पुरुष (इनमें से किसी को भी कामदेव नहीं छोड़ता (यहां तक कि) ऐसा बूढ़ा भी कुतिया का पीछा करता है जिसके गले में मिट्टी के घड़े का कण्ठ पड़ा हुआ है ॥६३॥

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जननीं सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढा प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिण ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिता
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिला कापालिकाश्चापरे ॥६४॥

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम्।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणो
स्वहितकरणदक्षैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽसि ॥८७॥

हे मनुष्य! परमार्थ नष्ट करने वाली अमंगलकारिणी पाँचों इन्द्रियों (कान आँख जीभ नाक और त्वचा) ने क्रमशः तुझे घुमा-घुमाकर ठग लिया है। (जिससे तुझे लगता है कि) यह मीठा संगीत है यह नृत्य है, यह स्वाद की वस्तु है, यह सुरभि विसर्जित हो रही है और यह स्तनों का सुखद स्पर्श है ॥८७॥

न गम्यो मन्त्राणां न च भवति भैषज्यविषयो
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः।
भ्रमावेशादङ्गे किमपि विदधद्भङ्गमसमं
स्मरोऽपस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥८८॥

यह कामदेव रूपी मिरगी न तो मन्त्र-साध्य है न इसकी दवा हो सकती है और न यह सैकड़ों शमन के साधनों से ही नष्ट होती है (क्योंकि) यह चक्कर लाने के कारण शरीर को एक विचित्र व्यथा से पीड़ित करती है मन को अशान्त करती और दृष्टि को घुमा देती है (अर्थात् उल्टी कर देती है) ॥८८॥

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ॥८९॥

वैराग्यशतकम्

मंगलाचरणम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

देश-काल से अपरिसीमित, अनन्त, ज्ञानस्वरूप, अपनी (आन्तरिक) अनुभूति से ही बोधगम्य, शान्त तथा तेजस्वरूप(ब्रह्म)को प्रणाम है ॥१॥

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

श्रेष्ठ काव्य शरीर में (ही) घुल जाता है (क्योंकि) बुद्धिमान लोग तो गर्व से भरे हैं, ऐश्वर्यशाली लोग धन के घमंड में चूर हैं तथा दूसरे जन अज्ञान से ग्रस्त हैं ॥२॥

नसंसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥३॥

सेवा भी विफल हो गई, (और) मान-मर्यादा छोड़कर, शंकित होकर दूसरों के घर कौवे की तरह भोजन भी किया(पर सब व्यर्थ ही रहा)॥५॥

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरै-
निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमतिशून्येन मनसा ।
कृतश्चित्तस्तम्भ प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥६॥

हे आशे ! व्यर्थ मुझे अब क्यों नचाती है ? (क्योंकि तेरी ही तृप्ति के लिए) मैंने दुर्जनों की सेवा में तत्पर होने के कारण (उनके अनेक) दुर्वचन जैसे-तैसे सहे; अन्दर के आँसुओं को रोककर उन्मन(उनके आगे) हँसते भी रहे (तथा) मजाक उड़ाने वालों के सामने चित्त थाम कर हाथ भी जोड़े (पर सब निरर्थक ही हुआ) ॥६॥

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं ।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभि कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते ।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥७॥

अज्ञान से भरी आलस्य की मदिरा पीकर यह संसार पागल हो रहा है। (क्योंकि) सूरज के निकलने और अस्त होने से दिन पर दिन उमर घटती (ही) जाती है अत्यधिक काम भार से बोझिल व्यापारों में व्यस्त रहने के कारण समय का (भी) पता नहीं चलता, और जन्म बुढ़ापा मुसीबतें तथा मृत्यु देखकर (भी) भय नहीं लगता ॥७॥

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्येत चेद्गेहिनी ।

याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदगलत्त्रुटयद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जन ॥८॥

कौन ऐसा मनस्वी पुरुष होगा जो केवल अपना पेट भरने के लिए भीख न मिलने के डर से, गद्गद वचनों से टूटे-फूटे अक्षरों वाली (भीख) 'दो' ऐसी वाणी कहेगा (अर्थात् भीख मांगेगा) अगर (उसके पास ऐसी) पत्नी न हो जिसके फटे-पुराने कपड़ों को अत्यन्त दीन मुंह वाले बच्चे खींच रहे हों और जो अन्न के लिए रोते हुए घर के दूसरे सदस्यों (को देखने) से पीड़ित हो ॥८॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलित
समाना स्वर्याता सपदि सुहृदो जीवितसमा ।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो धृष्ट कायस्तदपि मरणापायचकित ॥९॥

अरे! यह शरीर (इतना) ढीठ है कि तब भी मृत्यु की बात सुनकर चकित हो उठता है (जब) भोग-विलास की कामना क्षीण हो गई, अपनी उमर वाले स्वर्ग चले गए, अन्य मित्रजन भी मरणासन्न हैं (स्वयं भी) छड़ी के सहारे धीरे-धीरे उठ पाते हैं और दोनों आँखों में (भी) अन्धेरा छा गया है ॥९॥

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणाङ्कुरभुज सृष्टा स्थलीशायिन ।
संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्ति कृता सा नृणां
यामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणा ॥१०॥

साँपों के लिए विधाता ने (ऐसी) जीविका बनाई कि वे बिना हिंसा और परिश्रम के भोजन पा जाँय; ऐसे जानवरों का निर्माण किया (जो)

तिनका खाते और जमीन पर सोते हैं (परन्तु) संसार-सागर को पार करने में समर्थ बुद्धि वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति ऐसी बनाई कि सब सुखों के समाप्त हो जाने पर (भी) जिस चीज की तलाश (वे करें) उसमें निरन्तर विफल ही हों ॥१०॥

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥११॥

हम माँ के यौवनरूपी वन काटने के लिए कुल्हाड़ी ही हैं। (क्योंकि) भगवान के चरणों का संसार से मुक्ति पाने के लिए (हमने) यथाविधि ध्यान नहीं किया ऐसे धर्म का भी उपार्जन नहीं किया जो स्वर्ग के दरवाजे को खोल सके और न ही स्त्री के पुष्ट उरोजों और दोनों जांघों का स्वप्न में (भी) आलिङ्गन किया ॥११॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥१२॥

हमने विषय-वासनाओं का भोग नहीं किया (परन्तु) खुद ही उनके भोग्य बन गए तपस्या नहीं की स्वयं जलते रहे समय नहीं बीता हमीं समाप्त हो गये तृष्णा नहीं जीर्ण हुई हमीं बूढ़े हो गए ॥१२॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं नित्यमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥१३॥

हमने वही-वही काम किया जिसे-जिसे मुनियों ने प्रवञ्चक कहा। (क्योंकि) हमने क्षमा का पालन तो किया पर सामर्थ्य के बस पर नहीं (वरन् अपनी कमजोरी के कारण) घर का सुख तो छोड़ा पर संतोष की भावना से नहीं ठण्डी और गरम हवाओं के असह्य कष्ट को तो सहा पर तपस्या नहीं की, वैभव पर दिन रात ध्यान लगाये रहे पर नियमपूर्वक शङ्कर जी के चरण का ध्यान नहीं किया ॥१३॥

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१४॥

बस एक लालच ही जवान हो रही है। झुर्रियों से मुँह आक्रान्त हो गया सिर सफेद बालों से चिह्नित हो गया ।(और) अङ्ग भी ढीले पड़ गये ॥१४॥

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमा ।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥१५॥

अरे ! यह इन दोनों (चन्द्रमा और सूर्य) की दुर्दशा ही तो है। (देखो न) आकाश के जिस भाग में चन्द्रमा रात बिताता है उसी में सूर्य दिन बिताता है ॥१५॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१६॥

विषय-वासनाएं बहुत समय तक भोग लने पर भी निश्चित रूप से दूर जायगी ।(इसलिए) आदमी अपने आप ही उनका त्याग क्यों न कर दे ? (क्योंकि) जब वे (वासनाएं) स्वयं छूट जाएगी तो चित्त को अति दुःख देंगी। (और यदि उन्हें मनुष्य) उन्हें स्वयं तिलाञ्जलि दे दे तो वह अनन्त सुख प्राप्त करेगा ॥१६॥

तृष्णाधिकारमाह

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा
परिष्वंगं तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः ।
जराजीर्णैश्वर्यग्रसनगहनाक्षेपकृपण-
स्तृपापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥१७॥

विवेक के प्रकाशित होने पर तृष्णा शान्त हो जाती है वही (तृष्णा) है विलासों के संसर्ग से फलकर चरम सीमा पर पहुँच जाती है।(क्योंकि) इन्द्र भी ऐसी तृष्णा के वशीभूत होकर उम्र भर भोगे हुए वैभव के कठिन परित्याग में असमर्थ हो जाता है ॥१७॥

मदनविडम्बनमाह

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१८॥

कामदेव मरे हुए को भी मारता है। (क्योंकि) कुतिया का (संभोग करने के लिए) पीछा करता वह कुत्ता (भी) ऐसा करता है (जो) दुर्बल, काना, लंगड़ा, कनकटा, पूंछरहित है; जिसके फोड़ा हो गया है; जिसके मवाद भरे शरीर में कीड़े पड़े हैं, जो भूखा और बूढ़ा हो गया है (और) जिसके गले में फूटी हुई हाँडी का घेरा पड़ा है ॥१८॥

विषयाणामधिकारमाह

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।

वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमलीनकन्था
हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति॥१९॥

बड़ा आश्चर्य है कि वासनाएं तब भी उन्हें नहीं छोड़तीं (जो) भीख माँगकर खाते हैं वह भी बिना स्वाद का भोजन केवल (दिन में) एकबार (जिनकी) शय्या पृथिवी (और) परिवार अपना शरीर मात्र है; (तथा जिनका) कपड़ा सकड़ों थीगड़ों वाली कथरी है ॥१९॥

कपतिरस्कारमाह

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघन-
महो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥२०॥

अरे! (स्त्रियों के) निन्दनीय सौन्दर्य की कवियों ने बड़ी ही(असंगत) प्रशंसा कर रखी है। (क्योंकि) मांस के लोथड़ों वाले उरोजों की उपमा (कवियों ने) सोने के कलश से दी है थूक से भरे मुह की भी तुलना चन्द्रमा से दी है (तथा) टपकते हुए मूत्र से भीगी जाँघों को वे गजराज के शुण्ड के सदृश बताते हैं ॥२०॥

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला
न मुञ्चाम कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥२१॥

अरे! यह महा अज्ञान की अत्यन्त गुरु महिमा है कि पतंग दीपक की आग में अनजाने में गिरता है (अर्थात् वह यह नहीं जानता कि उसमें

मर जायगा), मछली भी कटिया का माँस अनजाने में ही खा लेती है (परन्तु) हम (मनुष्य जाति) ही ऐसे हैं कि जानते हुए भी दुःख की जाल में फँसाने वाली वासनाओं को नहीं छोड़ते ॥२१॥

विसममशनाय स्वादु पानाय तोयं
शयनमवनिपृष्ठे वल्कले वाससी च ।
नवधनमधुपानभ्रान्त सर्वेन्द्रियाणा-
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२२॥

मैं ऐसे दुष्टजनों का अनादर नहीं सह सकता जिनकी सभी इन्द्रियाँ नयी सम्पत्ति रूपी मदिरा पीने से चकराती रहती हैं, जब कि खाने के लिए कमलकन्द पीने के लिए स्वादिष्ट जल सोने के लिए पृथिवी तथा पहनने के लिए वल्कल (प्राप्य हैं) ॥२२॥

मानिनामुद्दिश्याह

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥२३॥

कुछ ऐसे विशाल हृदय वाले महान् पुरुष प्राचीन काल में हुए जिन्होंने संसार की सृष्टि की। दूसरों ने (उस संसार को) स्थिर रक्खा। (कुछ) अन्य लोगों ने (संसार को) जीतकर तिनके की तरह (दूसरों को) दे दिया। यहाँ (कुछ ऐसे भी) धैर्यवान् पुरुष हैं जो चौदहों भुवनों का, पालन करते हैं। (और दूसरे) वे मनुष्य जिनको कुछ गाँव पाने का अभिमान रूपी ज्वर है, क्या हैं ॥२३॥

साहङ्कारं पुरुषमुद्दिश्याह

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥२९॥

ऐसा भी कभी कोई (पैदा हुआ) था जिसके उज्ज्वल मस्तक को भगवान् शङ्कर ने अपने सिर का आभूषण बनाया ? आजकल कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो जीवन-यापन करने वाले कुछ व्यक्तियों से आदर पाकर न जाने कितने अतुल अहङ्कार के ज्वर से उन्मत्त हो रहे हैं ॥२९॥

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदित्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्था न चेत्त्वयि मम सुतरामेषराजन्गतोऽस्मि ॥३०॥

हे राजन् ! यदि मुझमें तुम्हारी आस्था नहीं है तो मेरी भी तुममें नहीं । (अतः) मैं जाता हूँ (क्योंकि) यदि तुम ऐश्वर्य के स्वामी हो तो मैं भी विद्या का स्वामी हूँ , यदि तुम (युद्ध में) वीर हो तो मैं भी (शास्त्रार्थ करने वाले) प्रतिद्वन्द्वियों का ज्वर शान्त करने में दक्ष हूँ , यदि तुम्हारी सेवा धन के लोभी करते हैं तो बुद्धि की मलिनता दूर करने के लिए (शास्त्र) सुनने की इच्छा रखने वाले लोग मेरी भी सेवा करते हैं ॥३०॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।

यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥३१॥

मुझे जब बहुत थोड़ा ज्ञान था तो मैं हाथी की तरह अभिमान में अन्धा हो गया। उस समय मेरा मन अपने को सर्वज्ञ समझ कर गर्व से भर गया। जब मुझे विद्वानों के संसर्ग से कुछ जानकारी हुई तो (यह जानकर कि) मैं मूर्ख हूँ मेरा ज्वर-सा घमण्ड उतर गया ॥३१॥

निर्ममतास्वरूपमाह

अतिक्रान्तः कालो लटभललनाभोगसुभगो
भ्रमन्तः श्रान्ताः स्मः सुचिरमिह संसारसरणौ।
इदानीं स्वःसिन्धोस्तटभुवि समाक्रन्दनगिरः
सुतारैः फूत्कारैः शिव शिव शिवेति प्रतनुमः ॥३२॥

समय (जवानी) भूषणों से सुशोभित स्त्री के साथ विलास (करने) में बीत गया। बहुत समय तक इस संसार-पथ में भ्रमण करते-करते थक गया हूँ। (अब) इस समय स्वर्गङ्गा के तीर पर (स्त्रियों के प्रति) निन्दा के वचनों को जोर-जोर से कहकर शङ्कर की ही भूरि भूरि उपासना करूँगा ॥३२॥

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः-
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरदरीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥३३॥

बुद्धिमान् पुरुषों के लिए इस समय यही उचित है कि उस पर्वत की कन्दरा के समीप गुफा और कुञ्ज में कहीं निवास करें जिसके पत्थर गङ्गा-जल से पवित्र हैं (क्योंकि) आदर कम हो गया धन नष्ट हो गया याचना करने वाले लौट-लौट जाते हैं, सम्बन्ध जन भी कम हो गये तथा धीरे धीरे जवानी भी विनष्ट हो गई ॥३३॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहु हा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥३४॥

हे मन ! तू प्रतिदिन दूसरों के हृदय की अत्यधिक आराधना करके किस सुख को प्राप्त करने के लिए कष्ट भोग रहा है । तू सभी कामनाओं का परित्याग करके अपनी इच्छा पूरी क्यों नहीं करता ? (क्योंकि) तेरे आन्तरिक रूप से प्रसन्न रहने पर चिन्तामणि जैसे गुण स्वयं अंकुरित होंगे ॥३४॥

अथ भोगपद्धतिः

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥३५॥

पृथिवी पर मनुष्यों के लिए सभी चीजें भयप्रद हैं, केवल वैराग्य ही निर्भय है । (क्योंकि) भोग-विलास में रोग का, परिवार (के बहुत बड़े हो जाने) से पतन का, सम्पत्ति होने पर राजा का मौन रहने पर दीनता का

पराक्रम रहने पर शत्रु का सौन्दर्य के रहने पर बुढ़ापे का ज्ञान रहने पर प्रतिवादियों का सद्गुणों के रहने पर दुष्टों का तथा शरीर में यमराज का भय बना रहता है ॥३५॥

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
　　कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःशंकमनसां
　　कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥३६॥

हमने कमलपत्र पर बिन्दुओं के सदृश (चञ्चल) इन प्राणों के लिए विवेक का परित्याग करके क्या-क्या नहीं किया ? (क्योंकि) ऐश्वर्य के मद से अन्धे लोगों के सामने अपना गुणगान रूपी पाप को निर्लज्जतापूर्वक किया ही ॥३६॥

अथ कालमहिमा

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥३७॥

हे भाई ! उस काल को नमस्कार है जिसके वशीभूत होकर सभी चीजें कहानी मात्र रह गयीं । (क्योंकि) यह बड़े खेद की बात है कि वह महान् राजा जिसका राज्य चारों ओर फैला हुआ था, उसकी राज-सभा तथा (उस दरबार में) सुशोभित होने वाली स्त्रियाँ, उससे सबल राज-पुत्र तथा बन्दीगण—यह सभी (उस काल के वश में रहने के कारण) विनष्ट हो गए ॥३७॥

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतनाद्-
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥३८॥

इस समय हम दिन पर दिन, नदी के तट पर बालू में (उगे) पेड़ की तरह पतन की ओर जा रहे हैं (क्योंकि) जिनके साथ हमारा जन्म हुआ था वे बहुत पहले ही (मृत्यु के घाट) चले गए और जिनके साथ हम बढ़े हुए वे भी कहानी मात्र रह गए ॥३८॥

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नान्ते न चैकः ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन्द्वाविवाक्षौ
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणिशारैः ॥३९॥

काल पुरुष आदमियों की गोटी बना-बना कर दिन-रात के पासों को फेंककर अपनी कालरात्रि से खेलता है। (क्योंकि) उस घर में जहाँ बहुत लोग थे केवल एक ही रह गया है। जहाँ एक था और बाद में बहुत सारे (दीख पड़े) थे वहाँ अन्त में एक भी नहीं रह गया ॥३९॥

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसा-
न्न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥४०॥

इस क्षण भंगुर मनुष्य (शरीर) को देखकर हमें यह नहीं मालूम कि क्या करें। (क्योंकि हम इसी ऊहापोह में हैं कि) तपस्या करते हुए गङ्गाजी

के तीर पर निवास करें, या गुणवती कामिनियों के साथ प्रणयपूर्वक विहार करें, अथवा शास्त्रों तथा काव्यों के रसामृत का पान करें ॥४०॥

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः शृङ्गकण्डूविनोदम् ॥४१॥

मेरे ऐसे अच्छे दिन कब होंगे जब हम गङ्गाजी के तट पर हिमालय की चट्टान पर पद्मासन लगायेंगे, ब्रह्म के ध्यान में विधिपूर्वक लीन हो योगनिद्रा प्राप्त करेंगे तथा (भय से) निर्भय होकर बूढ़े मृग (हमारे शरीर से रगड़ कर) अपने सींगों की खुजली मिटायेंगे ॥४१॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिवशिवशिवेत्यार्तवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः ॥४२॥

हम ऐसे (सुखी) कब होंगे जब कहीं छिटकी हुई चाँदनी से शुभ्र हुए गङ्गातट पर आनन्द से बैठेंगे; सब आवाज बन्द हो जाने पर रात में शङ्कर जी की भूरि भूरि पूजा आर्तस्वर से करते हुए सांसारिक झगड़ों से व्याकुल रहेंगे, (तथा जब) खुशी के आँसुओं से आँखें भरी रहेंगी ॥४२॥

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरि-
द्गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यं व्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥४३॥

क्या-क्या कहूँ ? शिव ही एक देवता हों (अन्य नहीं उसी प्रकार) गङ्गा ही एक नदी गुफा ही एक घर, दिशाएं ही परिधान, समय ही मित्र, अदीनता ही व्रत तथा वट-वृक्ष की तरह ही (हमारी) पत्नी हो ॥४३॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥४४॥

विवेक-पथ से विचलित लोगों का पतन सैकड़ों तरह से होता है। (क्योंकि) गङ्गाजी स्वर्ग से शङ्कर जी के सिर पर गिरीं, सिर से हिमालय पर, (उस) ऊँचे पर्वत से पृथिवी पर (तथा) पृथिवी से सागर में जा गिरीं ॥४४॥

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥४५॥

आशा (उम्मीद) नाम की एक नदी है। (उसमें) कामना रूपी जल है, तृष्णा रूपी तरंगें हैं, अनुराग रूपी मगर है, अनेक प्रकार के तर्क वितर्क ही पक्षी हैं। (यही आशा रूपी नदी) धैर्य रूपी वृक्षों का विध्वंस करने वाली है। (उसमें) अज्ञानरूपी भँवरों के कारण अत्यन्त दुस्तर तथा विकट चिन्तारूपी तट हैं। इसी को पार करके पवित्र मन वाले योगीश्वर ही आनन्द प्राप्त करते हैं ॥४५॥

मास्सार त्रिभुवनमिद चिन्वतां तात तादृङ्
नैवास्माक नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा।
योऽय धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमान-
क्षीबस्यान्त करणकरिण सयमालानलीलाम् ॥४६॥

हे भाई! सारे संसार में देखा पुरुष न देखने में आया और न सुनने में जो विषय-वासनाओं रूपी हथिनी से उत्पन्न अहंकार से युक्त अन्त करण रूपी मतवाले हाथी को अपने वश में रख सके ॥४६॥

साम्प्रत निर्वेदतायाः स्वरूपमाह

ये वर्द्धन्ते धनपतिपुर प्रार्थनादु खभाजो
ये चाल्पत्व दधति विषयाक्षेपपर्यस्तबुद्धे ।
तेषामन्त स्फुरितहसितं वासराणां स्मरेय
ध्यानाच्छेदे शिखरि कुहरग्रावशय्यानिषण्ण ॥४७॥

हम उन दिवसों को अन्तर्मन में प्रफुल्लित होकर ध्यान लगाने से शान्ति पाकर, पर्वत की गुफा में शिलारूपी शय्या पर बैठे हुए याद करेंगे जो (दिवस) ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों से याचना करने के कारण दुःख सहन करने वालों के लिए बढ़ जाते हैं; (और) जो (उनके लिए) घट जाते हैं जिनकी बुद्धि भोग-विलास के कारण नष्ट हो गई है ॥४७।

विद्या नाधिगता कलकरहिता वित्तं च नोपार्जित
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता।
आलोलायतलोचना युवतय स्वप्नेऽपि नालिङ्गिता
कालोऽय परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रे[illegible]

दूसरों से प्राप्त की लालसा करते-करते कौए की तरह हमारा सारा य यों ही बीत गया। (क्योंकि) हमने न तो निर्मल विद्या प्राप्त की धन पैदा किया, न ध्यान पूर्वक माँ-बाप की ही सेवा शुश्रूषा की (और) चपल तथा दीर्घ नेत्रों वाली युवतियों से स्वप्न में भी आलिङ्गन ही किया ॥४८॥

विवीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदया
स्मरन्त संसारे विगुणपरिणामावधिगती ।
वय पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणी-
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणा ॥४९॥

हम शङ्कर जी के चरणों में अपना ध्यान लगाकर, शरद् ऋतु की ज्योत्स्ना में किसी पवित्र वन में बैठे हुए ऐसी रात कब बिताएँगे जब सभी कुछ नष्ट हो जाने पर मेरा हृदय करुणा से भरा होगा और उन (नष्ट हुई) चीजों को हम गुणविहीन (नश्वर) मान सकेंगे ॥४९॥

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषाविशेष ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्र ॥५०॥

दरिद्र वह होता है जिसकी लालसाएं बहुत अधिक होती हैं। मन के संतुष्ट रहने पर कौन दरिद्र है और कौन धनाढ्य ? (क्योंकि) तुम (यदि) ऐश्वर्य से सन्तुष्ट हो तो मैं वल्कल से हूँ। (अतः) इस विषय में (हमारे और तुम्हारे) सन्तोष में कोई अन्तर नहीं है ॥५०॥

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृशन्
न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥

स्वच्छन्द होकर विहार करना, बिना माँगे भोजन करना, सज्जनों के साथ निवास करना, ऐसा ज्ञान सुनना जिसका फल शान्तिरूपी साधना हो, बाहरी (लौकिक) चीज़ों में लगे हुए मन से भी बहुत समय तक विचार मग्न रहना—मैं यह नहीं जानता कि यह सब किस तपस्या के फल हैं ॥५१॥

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥५२॥

वे लोग धन्य हैं जिनकी अन्तरात्मा में संतोष है, जिनका हाथ (ही) पवित्र पात्र है, घूम-घूम कर भीख में पाया हुआ अन्न ही भोजन है, दिशाओं वाला निरभ्र आकाश ही परिधान है (तथा) चौड़ी सी ज़मीन ही शय्या है; जिन्होंने धन के विषय में अनासक्त रहना स्वीकार कर लिया है, जो सारी दीनता छोड़ चुके हैं, (तथा) जिन्होंने कर्म (की शक्ति) को समूल नष्ट कर दिया है ॥५२॥

दुराराध्याः स्वामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ।

जरा देहं मृत्युर्हरति सकलं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥५३॥

हे मित्र ! ज्ञानी व्यक्ति के लिए तपस्या छोड़कर कहीं और कल्याण नहीं । (क्योंकि) स्वामियों की सेवा अति कठिन है; राजाओं का मन घोड़ों की चाल की तरह चञ्चल होता है । (फिर) हम तो स्थूल (पदार्थों) की कामना करते हैं ! हमारा मन बड़े-बड़े पदों में लगा है । शरीर भी वृद्ध हो चुका है । (और) सारे जीवन का तो मौत अन्त (ही) कर देती है ॥५३॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालसा तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विधद्ध्वं बुधाः ॥५४॥

हे पण्डितो ! धैर्य की समाधि लगाने से सुलभ योग में (ही) ध्यान रखो (क्योंकि) विषय-वासनाएं फैले हुए बादलों में चमकती हुई बिजली की तरह चञ्चल हैं; उम्र (भी) हवा से बिखरे हुए बादलों के पानी की तरह नश्वर है; (तथा) जवानी की उमंगें भी अस्थिर हैं ॥५४॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपाली कपाली-
मादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोप कण्ठम् ।
द्वारंद्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणी सधन्योनपुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषुदीनः ॥५५॥

अपने बराबर के परिवार वालों में दीन होकर रहना अच्छा नहीं, (बल्कि) वह मानी पुरुष अच्छा जो पवित्र गांव या जंगल में भूख से

पीड़ित पेट रूपी खोह भरने के लिए ऐसे द्वारों पर जाता है जिनकी चौखट न्यायशील ब्राह्मणों के द्वारा किए गए हवन की अग्नि के धुएं से भरी हुई है ।।५५।।

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किंवा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै-
र्नक्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ।।५६।।

योगीजन स्वच्छन्द अपने रास्ते पर चले जाते हैं। वे ऐसे लोगों से राग द्वेष नहीं करते जो सन्देह में पड़े होने के कारण यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह चाण्डाल है या ब्राह्मण शूद्र है या कोई तपस्वी अथवा कोई ऐसा योगी है जिसकी बुद्धि तत्त्व-चिन्तन में निपुण है ।।५६।।

सखे धन्याः केचित्त्रुटितभवबन्धव्यतिकरा
वनान्ते चित्तान्तर्विषमविषयाशीविषगताः ।
शरच्चन्द्रज्योत्स्नाधवलगगनाभोगसुभगां
नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयचित्तैकशरणाः ।।५७।।

हे मित्र! वे लोग धन्य हैं जिसके मन में पुण्यों की राशि है, जिन्होंने सांसारिक बन्धनों को तोड़ डाला है, जिनके मन से भयंकर सर्प रूपी भोगविलास निकल गया है (तथा) जिनकी रातें शरद् ऋतु की चाँदनी से शुभ्र एवं आकाश के विस्तार से रमणीय होती हैं ।।५७।।